Vol -3, ग्रंथ – 3,वर्ष – 1,अंक –2 उज्जैन, माह- अक्टुबर 2013 मार्च 2014 , वार्षिक 80/–रु, प्रति अंक 40/– रु.

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

विक्रमार्क

THE VIKRAMĀRKA

अर्धवार्षिक शोध -पत्रिका

Half Yearly Research Journal

तत्कृतं यन्न केनापि तद्दत्तं यन्न केनचित्।
तत्साधितमसाध्यं यद्विक्रमार्केण भूभुजा ॥

विक्रम ताम्र मुद्रा

विक्रम

शासक की आवक्ष प्रतिमा/ब्राह्मी लेख विक

शासक की आवक्ष प्रतिमा/ब्राह्मी लेख विक

8.	268	೪೭೬೮೨೬	श्री विक्रमस

एक्सकेवेशन एट नान्दुर–पृष्ठ 73 पर वर्णन
पृष्ठ 83 पर प्रकाशित मुद्रांक

उजेनियी

विक्रमार्क

THE VIKRAMĀRKA

ग्रंथ - 3
Vol - 3
वर्ष - 1
अंक - 2

अर्धवार्षिक शोध–पत्रिका
Half Yearly Research Journal
अक्टुबर, 2013-मार्च, 2014

शरद् 2070 विक्रमाब्द

प्रधान सम्पादक
श्रीराम तिवारी

सम्पादक
डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

समन्वयक
प्रदीप अग्रवाल

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
स्वराज संस्थान संचालनालय, मध्यप्रदेश
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

Maharaja Vikramaditya Shodha Peetha
Swaraj Sansthan Sanchalanalay
1, Udayan Marg, Ujjain - 456010 (M.P.)
Telefax : 0734-2521499
Email : vikramadityashodhpeeth@gamil.com

विक्रमार्क

THE VIKRAMĀRKA

अर्धवार्षिक शोध–पत्रिका
Half Yearly Research Journal

संवत् : 2070 शरद्
सन् : अक्टुबर, 2013-मार्च, 2014

मूल्य : एक अङ्क 40/- रु.
वार्षिक 80 रु.

आकल्पन : रुद्राक्ष ग्राफिक्स, उज्जैन

संपादक सहयोग - डॉ. जगन्नाथ दुबे

प्रबन्धन : अवधेश श्रीवास्तव, सहायक निदेशक

मुद्रण : पञ्चायतीराज मुद्रणालय
1, औद्योगिक क्षेत्र, नागझिरी
देवास रोड़, उज्जैन

प्रकाशक :
महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
स्वराज संस्थान संचालनालय
1, उदयन मार्ग, उज्जैन - 456010

दूरभाष : 0734-2521499
Fax : 0734-2521499
Email : vikramadityashodhpeeth@gmail.com

कार्यालय सहयोग–
पं. रमेश शुक्ला, रीतेश वर्मा, संजय मालवीय

प्रकाशित सामग्री के विचारों से शोधपीठ का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पूर्वरंग

विक्रमार्क का शरद् अंक आपके हाथों में सौंपते हुए प्रसन्नता हो रही है। इसमें विक्रमादित्य और भर्तृहरि संबन्धित न केवल नवीन सामग्री अपितु अन्य कई नये तथ्य सप्रमाण आपके चिन्तन के लिए सुलभ करवाये जा रहे हैं। पूर्व के समान अब भी श्रीअश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर ने पूर्ववत् अन्वेषण के लिए सामग्री सुलभ करवाई है जिससे विद्वज्जगत् के चिन्तन के नये आयाम खुलने की सम्भावना प्रबल होती है।

संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य इस शोधपीठ के शोध का लक्ष्य है। परन्तु तत्सम्बन्धी ज्ञानान्वेषण शाखाएँ बहुमुखी हैं और उनमें जैसे-जैसे पैठते जाते हैं, नये-नये और भी मार्ग खुलते जाते हैं। और तब प्रतीत होता है कि जब तक उस युग का बहुमुखी अन्वेषण–अध्ययन न हो तब तक अपने लक्ष्य की ओर सावधानीपूर्वक आगे बढ़ने के मार्ग निष्कण्टक नहीं हो सकते।

विक्रम संवत् के सर्वप्राचीन उल्लेखों के प्रमाण उत्तरपश्चिम के तक्षशिला क्षेत्र से भी प्राप्त होते हैं। विक्रमादित्य के सभासद मूलदेव के मित्र शश का वहाँ राज्य था जो विक्रमादित्य का राज्यपाल रहा होगा। पद्मप्राभृतक भाण सहित संस्कृत कथासाहित्य में ही वह नहीं है अपितु प्राचीन पंच महापुरुषों में शश के लक्षण भी दिये गये हैं। बृहत्संहिता (69/23) के अनुसार शश प्रात्यन्तिक अथवा सीमावर्ती क्षेत्र का राजा या मांडलिक होता है और उसकी आयु सत्तर वर्ष की होती है। वहाँ उसके अन्य लक्षण भी प्राप्त होते हैं। उसके सिक्कों से ज्ञात होता है कि वह अश्पभट (अश्वभट्ट) का पुत्र था। शश के सिक्के प्रात्यन्तिक क्षेत्र से ही मिले हैं।

तक्षशिला क्षेत्र से प्राप्त छह अभिलेखीय प्रमाणों से ज्ञात होता है कि वहाँ के वर्ष 58, 78, 134, 136, 68, 191 विक्रम संवत् ही हो सकते हैं (शकाज इन इंडिया, सुधाकर चट्टोपाध्याय, पृष्ठ 106)। अतः कोटा के आसपास से प्राप्त कृत वर्ष से पूर्व उत्तरपश्चिम भारत में (विक्रम) संवत् का प्रचार वहाँ के पूर्वोक्त शश राजा के प्रभाव से प्रचलित हो गया था।

प्राचीन काल में संवत् का पर्याय शक था। वराहमिहिर के अनुसार एक शक का आरम्भ 2526युधिष्ठिर या कलि (575 ई.पू.) में हुआ था। ब्रह्मगुप्त के टीकाकार आमराज के अनुसार शक 509 (66 ई.पू. में वराहमिहिर का जन्म हुआ था। कुतूहलमंजरी के अनुसार युधिष्ठिर संवत् 3042

(59 ई.पू.) में वराहमिहिर का जन्म हुआ था। इन सबसे यह तो स्पष्ट होता है कि वराहमिहिर ईसवी पूर्व प्रथम शती में विद्यमान था। इस समय शश–मूलदेव की जोड़ी भी थी। और उन्हीं दिनों बाल्हिक तक विक्रमादित्य का वर्चस्व था जहाँ का राज्यपाल शश था और उस क्षेत्र का प्रसिद्ध साहित्यकार वैद्य हरिचन्द्र विक्रमादित्य का राजवैद्य था। यह सब विस्तृत प्रमाणों सहित पृथक् पुस्तक में प्रस्तुत किया जा रहा है।

विक्रमादित्य न केवल भारत के अतीत का भास्वर भास्कर है अपितु उनकी आभा से भविष्य के विभिन्न पथ भी प्रशस्त हो सकते हैं।

इस अंक के समस्त सुधी लेखकों के प्रति आभार।

भगवतीलाल राजपुरोहित

पुराण–विचार

भविष्योत्तरपुराण में इतिहास–प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को विक्रमादित्य के समान बताया गया है।

तस्य पुत्रोऽपरश्चन्द्रगुप्ताख्यो वीरकेसरी।
यवनांश्च तथा हूणान् देशाद् विद्रावयन् बलात्॥
विक्रमादित्यवन्नित्यं पण्डितैः परिसेवितः।
श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासकाव्यविचक्षणः॥
विक्रमादित्य इत्येव भुवनेषु प्रथां गतः।
सप्तसिन्धून् समुत्तीर्य बाह्लीकादीन् विजित्य च॥
सुराष्ट्रदेशपर्यन्तं कीर्तिस्तम्भं समुच्छ्रयन्।
षट्त्रिंशद् भोक्ष्यन्ति समस्त्वेकच्छत्रां वसुन्धराम्॥

(कृष्णमाचारियर, हिस्ट्री आफ संस्कृत क्लासिकल लिट्रेचर, इण्ट्रोडक्शन, पृष्ठ C111-CIV (43-44) तथा विक्रम वाल्यूम (अँग्रेजी) पृष्ठ 85)

अनुवाद

उस समुद्रगुप्त का दूसरा पुत्र वीरों में सिंह चन्द्रगुप्त नामक था। उसने बलपूर्वक यवनों और हूणों को देश से निकाल दिया। **विक्रमादित्य** के समान उसकी सेवा सदा पण्डितगण करते रहते थे। वह श्रुति, वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास, काव्य आदि में निष्णात था। परम्परा से वह लोकों में **विक्रमादित्य** नाम से ही जाना जाता था। सप्तसिन्धु को पारकर बाह्लीक आदि को जीतकर सुराष्ट्र देश तक कीर्तिस्तम्भ खड़े करते हुए वह छत्तीस वर्षों तक पृथ्वी का उपभोग करेगा।

(इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त से पूर्व विक्रमादित्य था।)

अनुक्रम

विक्रम मुद्रा का साँचा और आवक्ष प्रतिमाङ्कित ताम्रमुद्रा	डॉ. जगन्नाथ दुबे	01
नान्दूर-उत्खनन के एक मुद्राङ्क का पुनः परीक्षण	,,	03
भीमबैठका में महाराजा विक्रमादित्य के समकालीन शैलचित्र	डॉ. नारायण व्यास	05
साँची से प्राप्त दानदाताओं के अभिलेख	,,	07
दशपुर से प्राप्त 'भानुमितस' ताम्र-मुद्रा	डॉ. आर.सी. ठाकुर	09
विक्रमादित्यकालीन साँची के दानदाता और चतुर्भाणी	डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित	12
राजा शूद्रक	,,	19
मत्स्येन्द्रेय के सिक्के	,,	21
विक्रमादित्य की रानी और भर्तृहरि	डॉ. बा.ना. मुण्डी	23
संस्कृत-सुभाषित एवं साहित्यशास्त्र में विक्रमादित्य	डॉ. सदानन्द त्रिपाठी	29
भर्तृहरि का साहित्यावदान	,,	37
राजस्थान की लोकपरम्परा में भर्तृहरि	डॉ. नीरज शर्मा	46
भर्तृहरि और नानकदेव	डॉ. किरण रमण	53
भर्तृहरि-गुफा एवं परिक्षेत्र के पुरा–साक्ष्य	डॉ. रमण सोलंकी	56
भर्तृहरि और उत्तर-आधुनिकता	डॉ. नरेन्द्र इष्टवाल	58
महाराजा विक्रमादित्य की आवक्षाङ्कित प्रतिमा अभिलिखित ताम्र-मुद्रा	डॉ. जगन्नाथ दुबे	61
Management Sutra in Bhartrihari's Neeti Shatak	Dr. Dharmendra Mehta Dr. Naveen K. Mehta	63
विक्रमोत्सव का महत्त्व	वि.दा. सावरकर	66
विश्व-संस्कृति	भगवतशरण उपाध्याय	69
कृष्णचरितम्	समुद्रगुप्तेन रचितम्	73

विक्रम मुद्रा का साँचा और आवक्ष प्रतिमाङ्कित ताम्रमुद्रा

डॉ. जगन्नाथ दुबे

अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर के अध्यक्ष डॉ. आर.सी. ठाकुर के सौजन्य से अभी हाल ही में मुद्रा-निर्माण के 536 गोल आकार के मृण्मय साँचे (पूर्ण व खण्डितरूप में) प्राप्त हुए। उज्जयिनी-परिक्षेत्र से इतनी अत्यधिक मात्रा में सिक्कों के ढाले जाने वाले ये मृण्मय साँचे विस्मयकारक हैं। इन साँचों में अधिकांश प्रतीकाङ्कित साँचे सम्मिलित हैं। लेखाङ्कित साँचों का भी इनमें समावेश है।

ताम्रमुद्रा का आकार गोल तथा उसके पुरोभाग पर दक्षिणाभिमुख शासक की आवक्ष प्रतिमा रेखाङ्कन द्वारा उच्चित्रित है। शीश पर रत्नजटित आभरण दर्शाया गया है। वामभाग पर प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मीलिपि में लेख विक(म) अङ्कित है।

इन 536 गोल मृण्मय साँचों में अधिकांश पर विविध रूपों में प्रतीकाङ्कन है। लेखरहित 239 के प्रकारों का वर्णन इस प्रकार है ;-

1) देवाङ्कन प्रकार – दण्ड – कमण्डलु धारण किये शिव, ऊर्ध्वकेशी शिव, शिवलिङ्ग, त्रिमुख शिव, उमा-महेश्वर और हनुमान्। हनुमान् का अङ्कन (ब्रिटिश म्यूजियम क्वायन्स इन एंशियण्ट इण्डिया में एलन ने एक ताम्र-मुद्रा पर हनुमान् के अङ्कन का सर्वप्रथम प्रकाशन किया है। (पृष्ठ 286, फलक XLVI-17। इस साँचे से यह प्रकट होता है कि शिव-प्रकार की मुद्राओं के साथ ही हनुमान् के अङ्कन की मुद्राएँ दूसरी सदी ईसा पूर्व में प्रचलित थीं।

2) पशु-प्रकार – वृषभ तथा खरगोश (शश) का अङ्कन, मयूर पक्षी।

3) त्रिमेरु – वेदिका प्रकार

4) वेदिका वृक्ष प्रकार

5) वृक्षाङ्कित प्रकार

6) उज्जयिनी चिह्न प्रकार

7) षडरचक्र प्रकार, मकार अङ्कन प्रकार और एकवृत्त उज्जयिनी चिह्न के साथ केड्यूशस अङ्कन प्रकार

अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर से उपलब्ध लेखाङ्कित–53 मृण्मय साँचों में 'विक्रम' नामाङ्कित एक मृण्मय साँचा विरल है। इस साँचे पर अङ्कित 'विक्रम' नामाङ्कन से यह प्रकट होता है कि उज्जयिनी

स्थित टकसाल घर से इस नाम की मुद्राएँ ढाली जाती होंगी। लेखाङ्कित अन्य प्रकार के मृण्मय साँचों पर अन्य नाम जैसे महु, दत, श्री मह, मह और महव लेख अङ्कित हैं। श्री मह, मह व महव ब्राह्मी लेख भी अति महत्त्वपूर्ण हैं। महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, उज्जैन से प्रकाशित 'विक्रमादित्य और पुरातत्त्व' नामक ग्रन्थ में मुहरें नामक शीर्षक से वर्णित क्रमाङ्क 4 मृण्मय मुद्राङ्क अनियमित आकार की है। इस पर निम्नभाग प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मीलिपि में वृत्तायत लेख 'कतस उजनियि मह' तथा मुद्राङ्क के बायीं ओर ब्राह्मी 'व' अक्षर उत्कीर्ण है। इसी प्रकार क्रमाङ्क -15 मृण्मय मुद्राङ्क के धरातल पर ऊर्ध्वभाग में वृत्तायत ब्राह्मीलिपि में लेख 'विक्रम रुद्रस मह' और दाहिनी ओर मुँह किये पीठासीन ककुदमान् नन्दी का अङ्कन है। उपलब्ध मृण्मय साँचों में 31 पर मह ब्राह्मीलिपि में लेख 2 पर श्री मह और 10 पर महव लेखाङ्कित है। उपरोक्त वर्णित दोनों मुहरों पर अङ्कित मह व महव उज्जयिनी नगर का नाम और विक्रम रुद्रस महव लेख तथा पीठासीन नन्दी के अङ्कन और मृण्मय साँचों पर उत्कीर्ण मह, श्री मह और महव लेख के परिप्रेक्ष में स्पष्ट-रूप से यह प्रकट होता है कि महाराजा विक्रमादित्य के शासनकाल में उज्जयिनी नगर में रुद्र (महाकाल)महोत्सव विशेषरूप से मनाया जाता था। और महोत्सववाचक मह अङ्कित स्वतन्त्र मुद्राएँ भी उन्होंने प्रचलित की थीं। यह भी सम्भव है कि यह मह महाकाल का बोधक हो।

नान्दूर-उत्खनन के एक मुद्राङ्क का पुनः परीक्षण

डॉ. जगन्नाथ दुबे

नान्दूर एक्स्केवेशन रिपोर्ट सत्र 1981-1983 के पृष्ठ 73 पर क्रमांक-268 पर प्रकाशित मृण्मय मुद्रांक क्रमांक 268 का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है- मुद्रांक के तीन-चौथाई ऊर्ध्वभाग पर मध्य में एक देवाकृति खड़ी है, देवाकृति के बायीं ओर एक मानवाकृति करबद्ध मुद्रा में खड़ी हुई है। उसके दाहिनी ओर एक पक्षी उड़ते हुए दर्शाया गया है तथा समस्त चित्रण के नीचे एक रेखा के निम्न भाग में गुप्तब्राह्मीलिपि में – श्री विक्रम (विक्रमादित्य) लेख अङ्कित है। इसके बाद यह कथन है कि इस पर अङ्कित इस प्रकार की आकृति विक्रमादित्य की चक्र–विक्रम प्रकार की स्वर्णमुद्रा पर अङ्कित आकृति का प्रतिनिधित्व करती है। पृष्ठ 10 पर मुद्राओं और मुद्रांकों की एक तालिका में क्रमांक 8(268) पर ब्राह्मीलिपि में लेखन के अन्तर्गत मुद्रांक पर अंकित लेख 𑀲𑀻𑀯𑀺𑀓𑀼𑀫𑀲 (श्री विक्रमस) प्रकाशित किया गया है।

उपरोक्त वर्णित इस अनियमित आकार के मृण्मय मुद्रांक के धरातल पर अंकित चित्रण व ब्राह्मी-लिपि लेख का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर कतिपय नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं, वे निम्नलिखित हैं –

1) इस मुद्रांक पर अङ्कित देवाकृति शिव की है। उनके दाहिने हाथ में दण्ड, शीश पर जटामुकुट धारण किये वे दक्षिणाभिमुख खड़े हैं। बायाँ हाथ अस्पष्ट सा है।

2) इस देवाकृति (शिव) के सम्मुख करबद्ध खड़ी मानवाकृति की समता राजा विक्रमादित्य की स्वर्णमुद्रा पर अंकित आवक्ष प्रतिमा पर प्रदर्शित शीश पर रत्नजटित आभरण, कर्ण–कुण्डल, चौड़ा कपाल व मूँछों आदि से की जा सकती है।

3) मालवा-अंचल से प्राप्त प्रथम सदी ईसा पूर्व की ताम्रमुद्राओं पर अंकित शिव की परम्परा में यह चित्रण है।

4) इस मुद्रांक पर शिव के दाहिने हाथ में स्थित दण्ड के मध्यभाग से बायें किनारे तक चार मकार एक पंक्ति में अंकित हैं। ऊर्ध्वभाग मुद्रांक के मध्य में वृषभ का अङ्कन है। ये प्रतीक शिव से सम्बन्धित हैं।

5) इस मुद्रांक में एक रेखा के निम्नभाग में वामाभिमुख मुँह खुले हुए सिंह का अङ्कन और ब्राह्मीलिपि में लेख 'श्री विकुमस' अङ्कित है। ब्राह्मीलिपि में अङ्कित लेख 'विकुमस' की समता अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर से उपलब्ध 'विक्रमादित्य और पुरातत्त्व' 'नामक ग्रन्थ में प्रकाशित क्रमांक 8

की मुद्रा पर अंकित लेख (रा)जा विक्रम से की जा सकती है।

6) इसकी ब्राह्मीलिपि गुप्तकालीन नहीं है। ये अक्षराकार ईसवी पूर्व प्रथमशती के हैं।

उपरोक्त तथ्यों से इस प्रमाण की पुष्टि होती है कि खड़ी देवांकित प्रतिमा शिव की है। इसमें शैवधर्म से सम्बन्धित प्रतीक वृषभ (शिव का वाहन नन्दी) और चार मकार चिह्नों का भी अंकन है। शिव के सम्मुख खड़ी करबद्ध मानवाकृति विक्रमादित्य की स्वर्णमुद्रा पर प्रदर्शित मुखाकृति, शीश पर सुशोभित रत्नजटित आभरण से साम्यता रखती है। अत एव यह मानवाकृति महाराजा विक्रमादित्य की सम्भावित है।

नान्दूर-उत्खनन से प्राप्त इस मृण्मय मुद्रांक पर ब्राह्मीलिपि में लेख 'श्री विकुमस' अंकित है। गुप्त-शासकों में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी स्वर्णमुद्राओं पर 'श्री विक्रमः ' उपाधि संस्कृतभाषा में प्रयुक्त की है। इसके विपरीत इस मुद्रांक पर प्राकृतभाषा व प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मीलिपि में लेख श्री विकुमस (श्री विक्रमस्य) अंकित है। अत एव इस मृण्मय मुद्रांक पर शिव के स्वरूप का अङ्कन (शिव के परमोपासक विक्रमादित्य) और उनके सम्मुख खड़ी करबद्ध मानवाकृति अर्थात् विक्रमादित्य तथा इस मुद्रांक पर अंकित ब्राह्मीलिपि के लेख 'श्री विकुमस' (विक्रमस्य) नाम के साक्ष्य के आधार पर इसे समकालीन मालवा में शासनरत 'विक्रमादित्य' नामक शासक से सम्बद्ध किया जा सकता है। अभी हाल में अश्विनी शोध संस्थान महिदपुर से भी मृण्मय साँचों में एक पर ब्राह्मीलिपि में 'विक्रमस ' नाम अंकित प्राप्त हुआ है। यह मृण्मय साँचा लिपि व नाम के आधार पर प्रथम सदी ईसा पूर्व का विक्रमादित्य का मान्य किया गया है।

46, हरिओम् विहार
महानन्दा नगर, 12 सी सेक्टर
के पास, उज्जैन

भीमबैठका में महाराजा विक्रमादित्य के समकालीन शैलचित्र

डॉ. नारायण व्यास

भीमबैठका (20°40 उ. 77°35 पू.) जिला-रायसेन, भोपाल से लगभग 55 कि.मी. दक्षिण में औबेदुल्लागंज के निकट भियांपुरा ग्राम के क्षेत्र में स्थित है। इस स्थल की खोज का श्रेय पद्मश्री डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणकर को है, जिनके द्वारा वर्ष 1957-58 में प्रकाश में लाया गया। वर्ष 1971-72 में उनके द्वारा पुरातात्त्विक-उत्खनन प्रारम्भ किया गया। फलस्वरूप आदिमानव की सभ्यता तथा उसके विकास के प्रमाण प्राप्त हुए। साथ ही डॉ. वाकणकर एवम् अन्य पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा यहाँ शैलाश्रयों में बने शैलचित्रों का अध्ययन तथा अभिलेखीकरण किया गया। इनकी विश्वव्यापी महत्ता को देखते हुए भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण (भारत सरकार) द्वारा इस स्थल को संरक्षित एवं सुरक्षित घोषित किया गया। जुलाई, 2003 में यूनेस्को द्वारा भीमबैठका के चित्रित शैलाश्रयों को विश्व-धरोहर की श्रेणी में लिया गया।

भीमबैठका में पुरातात्त्विक-उत्खनन के अन्तर्गत पाषाणयुग से मध्यकाल तक के पुरावशेष क्रमबद्ध प्राप्त हुए। शैलचित्रों के शोधात्मक अध्ययन से उनका काल निर्धारण किया गया।

1) उत्तर पुरापाषाणकाल
2) मध्याश्मकाल
3) ताम्राश्मकाल
4) इतिहासकाल
5) मध्यकाल

शैलचित्रों के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि इन्हें बनाने के लिये गहरा लाल (लेटराईट के लाल कंकड़), गेरुआलाल, सफेद खड़िया तथा कहीं पीला तथा काले रंग का भी प्रयोग किया गया।

शैलचित्रों में सबसे अधिक चित्र इतिहासकाल के हैं, जबसे लिपि का प्रारम्भ होता है। इस युग में शिकार एवं युद्ध के दृश्यों को प्राथमिकता दी गई है। घोड़ों के चित्र इतिहास-युग की प्रमुख पहचान हैं। उत्तर पुरापाषाण, मध्याश्म एवं ताम्राश्मकाल के चित्रों में कहीं भी घोड़ों के चित्र नहीं प्राप्त होते हैं। केवल मानवाकृतियाँ, हिरण, जंगली भैंसा, सूअर, गेंडा इत्यादि के चित्र मिलते हैं। सम्भवतः इन युगों में घोड़ों का आगमन नहीं हुआ था। तुलनात्मक अध्ययन, शैली तथा अध्यारोपण (सुपर इंपोजिशन) के आधार

पर इतिहास-युग के शैलचित्र मौर्यकाल तथा गुप्तकाल के मध्य बनाये गये थे। इसका सबसे सर्वोत्तम उदाहरण भीमबैठका की झू–रॉक शैलाश्रय क्रमांक 3 सी/50 में देखने को मिलता है।

झू–रॉक, शैलाश्रय क्रमांक 3–सी/50

डॉ. वाकणकर त्वरित पहचान के लिये शैलाश्रयों का नामकरण किया करते थे। भीमबैठका में सबसे विशाल गुफानुमा शैलाश्रय का नाम सभागृह (ऑडिटोरियम) रखा था। इसके पीछे लगभग 100 मीटर की दूरी पर झू–रॉक शैलाश्रय है, जिसका आकार सर्प के फन अथवा छत्र के समान है। इसमें सैकड़ों जानवरों के चित्र हैं । अध्यारोपण (सुपर इंपोजिशन) के आधार पर इसमें मध्याश्म, ताम्राश्म, इतिहास तथा मध्ययुग के चित्र बने हुए हैं।

(अ) मध्याश्मयुगीन गहरे लाल रंग के चित्र सफेद रंग के ताम्राश्मकालीन चित्रों के नीचे बने हैं । गेंडे या जंगली सूअर का शिकार दृश्य अत्यन्त ही आकर्षक है।

(ब) ताम्राश्मयुगीन सफेद चित्रों में मानवाकृतियों के अतिरिक्त गेंडा, जंगली सूअर, जंगली भैंसा, हिरण की कई प्रजातियाँ, गाय, इत्यादि के चित्र हैं।

(स) इतिहासयुगीन चित्रों में प्रमुख-रूप से पशु, अश्वारोही, आयुध लिये योद्धा, युद्ध का दृश्य, अश्वमेध का दृश्य इत्यादि हैं। अध्यारोपण (सुपरइंपोजिशन) के आधार पर गुप्तकालीन चित्रित लेख के नीचे के चित्र मौर्यकाल तथा गुप्तकाल के मध्य के होना चाहिये, जब विक्रमादित्य का शासन रहा होगा।

सभी चित्रों में अश्वमेध का चित्र सबसे सुन्दर है जिसे लाल रंग से बनाया गया था। चित्र के मध्य-भाग में यज्ञ का घोड़ा है जिसकी पीठ पर ध्वज समान आकृति है। उसे पकड़े हुए एक योद्धा चल रहा है। अश्व के दोनों ओर योद्धा हैं, किसी के हाथ में ध्वज है। सेना के पीछे की ओर अलंकृत अश्व के ऊपर राजा बैठा है। राजा की सेना के सामने एक अन्य सेना सामने की ओर मुख किये है, सम्भवतः युद्ध के लिये तैयार है। इन चित्रों के निकट ही ढाल–तलवार लिये अश्वारूढ़ योद्धा हैं, जो शैली से कुषाणकाल के हो सकते हैं। इस प्रकार यहाँ अन्य कई इतिहासयुगीन चित्र हैं।

उपरोक्त शैलचित्रों के प्रमाण के अतिरिक्त दुर्गामन्दिर-शैलाश्रय के ऊपरीभाग में किसी बौद्ध-मतावलम्बी द्वारा एक लघु शैलाश्रय को कक्ष का रूप प्रदान किया गया है। उसकी छत पर ब्राह्मी का द्वितीय शताब्दी ई.पू. के अन्त अथवा प्रथम शताब्दी ई.पू. के प्रारम्भ का एक लेख उत्कीर्ण है जिसका वाचन ''सिंहकसलेणे'' यानी ''सिंहक की गुफा'' किया गया है।

मेरा ऐसा मत है कि भीमबैठका के उपरोक्त दो प्रमाण मिलते हैं, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये चित्र एवं लेख महाराजा विक्रमादित्य के समकालीन होने चाहिये। यदि हम प्रदेश के अन्य शैलचित्र के कलाकेन्द्रों के चित्रों का अध्ययन करें तो महाराजा विक्रमादित्य के समकालीन असङ्ख्य शैलचित्र अथवा चित्रित अभिलेख प्राप्त हो सकते हैं।

साँची से प्राप्त दानदाताओं के अभिलेख

डॉ. नारायण व्यास

साँची (जिला–रायसेन) के बौद्ध-स्मारक भोपाल से लगभग 45 कि.मी. की दूरी पर स्थित हैं। इन स्मारकों की खोज भोपाल राज्य के पोलिटिकल एजेन्ट जनरल टेलर ने वर्ष 1818 ई. में की थी। तत्पश्चात् कई विद्वानों द्वारा यहाँ समय–समय पर अनुसन्धान एवं संरक्षण कार्य किये गये हैं। इनमें मैसी, कनिंघम, जॉन मार्सल इत्यादि हैं। जेम्स प्रिन्सेप द्वारा ब्राह्मीलिपि की खोज से यहाँ के वास्तविक इतिहास की जानकारी प्राप्त हुई। यहाँ स्मारकों का निर्माण सम्राट् अशोक (ई.पू. 273-236) से प्रारम्भ होता है जिन्होंने स्तूप क्र. 1 स्तम्भ तथा विहार क्रमाङ्क 51 का निर्माण करवाया था। यहाँ निर्माण-कार्य लगभग 10वीं-11वीं शताब्दी तक चलता रहा। तत्पश्चात् यह क्षेत्र वीरान हो गया। वर्तमान में यहाँ के बौद्ध-स्मारक भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के अन्तर्गत संरक्षित किये गये हैं। वर्ष 1989 में यूनेस्को द्वारा इन्हें विश्वधरोहर की श्रेणी में लिया गया है।

समय–समय पर यहाँ संरक्षण एवं अनुसन्धान कार्यों के अन्तर्गत कई प्रकार की सामग्री, प्रतिमाएँ, सिक्के, दैनिक उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें प्रमुख सामग्री को पुरातत्त्व-सङ्ग्रहालय साँची में प्रदर्शित किया गया है।

कुछ समय पूर्व स्तूप क्रमाङ्क 2 के प्रदक्षिणा-पथ के संरक्षण कार्य के अन्तर्गत आठ दानदाताओं के अभिलेख मिले हैं, जिनमें सेठ, भिक्षुणी, धर्मालु इत्यादि की जानकारी मिलती है जिन्होंने प्रदक्षिणा-पथ के लिये शिलाएँ दान में दी हैं। वर्तमान में ये अभिलेख यथास्थान पर लगा दिये गये हैं, जानकारी निम्नानुसार है :

साँची स्तूप क्रमाङ्क-2 से प्राप्त अभिलेख

क्रमाङ्क	अभिलेख	वाचन	अनुवाद
1.	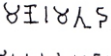	समणेरमातुदानं	श्रवण की माता द्वारा दिया गया दान।
2.	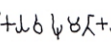	समिकयवघुमताकयदानं	समिक की माता का दान (अभिलेख स्पष्ट नहीं है)
3.	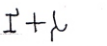	वणिकस	वणिक या बनिये द्वारा दिया गया दान।
4.	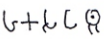	अरहकसपथूपक	अरहत कश्यप का स्तूप को दिया गया दान।
5.		लयभिखुनियदानं	भिक्षुणी द्वारा दिया गया दान (नाम के अन्त का केवल लय शेष है)
6.	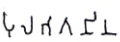	विपुलभगनिनदानं	विपुल नामक व्यक्ति की बहनों द्वारा दिया गया दान।
7.	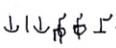	केरयरयभिकुनिय	यह लेख दो टुकड़ों में भग्न होने से केवल भिक्षुणी की ही जानकारी होती है
8.	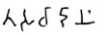	रतसचादानं	एक नागरिक[1] द्वारा दिया गया दान। यह लेख पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं है।

1.रक्त या रात्र नामक व्यक्ति। (सम्पादक)

95, फाइन एवेन्यू, नयापुरा, कोलार रोड, भोपाल

दशपुर से प्राप्त 'भानुमितस' ताम्र-मुद्रा

डॉ. आर.सी. ठाकुर

दशपुर (आधुनिक–मन्दसौर नगर) समुद्र तल से 1516 फुट ऊँचाई पर $24^{0}.5$ उत्तर और $75^{0}.5$ पूर्व में पश्चिमी रेलवे के अजमेर-खण्डवा मार्ग पर स्थित है। वर्तमान मन्दसौर नगर चम्बल नदी की सहायक शिवना नदी के तट पर विद्यमान है।

जैनग्रन्थ परिशिष्टपर्व में 6ठी सदी ईसा पूर्व में सर्वप्रथम दशपुर नगर के निर्माण का वर्णन मिलता है। महाभारत में दशपुर नगर की सुन्दरता का विवरण मिलता है। इसमें देश के अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण समृद्धशाली नगर के रूप में इसे परिगणित किया गया है। दशपुर नगर को सूर्यवंशी राजा रन्तिदेव की राजधानी भी कहा गया है। मौर्य-शासनकाल में दशपुर नगर अवन्ति जनपद का ही एक भाग था व उज्जयिनी प्रमुख स्थली थी। द्वितीय सदी ई. में क्षहरात-क्षत्रप नहपान के दामाद उषवदात के नासिक-प्रस्तरलेख में दशपुर के नाम का उल्लेख है।

मन्दसौर नगर के तीन व्यक्तिगत मुद्रा-संग्राहकों यथा सर्वश्री गिरिजाशङ्कर रूणवाल, राधेश्याम भावसार और कैलाशचन्द्र पाण्डे द्वारा संग्रहीत प्राचीनकालीन मुद्राओं में रजत व ताम्र आहत मुद्राएँ और ढली ताम्रमुद्राओं में विविध प्रतीकाङ्कित मुद्राएँ यथा दण्ड- कमण्डलुधारी शिव, ऊर्ध्वकेशी शिव, नृत्यरत शिव, गजाभिषेक लक्ष्मी, खड़ी हुई देवी का दाहिना हाथ कटि पर तथा ऊपर उठे हुए बायें हाथ में मकार अंकित है। अन्य प्रतीकों में पशुओं में हस्ति, वृषभ, वेदिका वृक्ष, मत्स्य–सरित् चिह्न और उज्जयिनी प्रतीक हैं। इन मुद्रा-संग्रहों में वर्तमान में कोई नामाङ्कित मुद्रा उपलब्ध नहीं है।

मन्दसौर क्षेत्र से सन् 2013 के ग्रीष्मकाल में शिवना नदी से धूलधोये से सर्वप्रथम एक नवीन प्रकार की भानुमित्र नामाङ्कित ताम्र-मुद्रा प्राप्त हुई है। यह ताम्र–मुद्रा वर्गाकार माप 16X18MM एवं 4 ग्राम वजन की है। इस मुद्रा के पुरोभाग पर दाहिने हाथ में दण्ड, बायें हाथ में कमण्डलु तथा शीश पर जटा-मुकुट धारण किये हुए सम्मुखाभिमुख समभंग-मुद्रा में शिव खड़े हैं। दण्ड के निम्नभाग में वृक्ष चिह्न, दण्ड के पार्श्व में एक वृत्त उज्जयिनी चिह्न अङ्कित है। इस मुद्रा में प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मीलिपि में 'भानुमितस' (भानुमित्र) नामक शासक का नाम अङ्कित है।

भानुमितस (भानुमित्र) नामाङ्कित शासक की ताम्र–मुद्राएँ पाञ्चाल जनपद से भी प्राप्त हुई हैं।[1] इन मुद्राओं के पुरोभाग में तीन विविध चिह्न तथा निम्नभाग में ईसा पूर्व प्रथम सदी की ब्राह्मीलिपि में

'भानुमितस' (भानुमित्र) नाम का अंकन और वामभाग पर चबूतरे पर रश्मियों से युक्त सूर्यदेव का अङ्कन है।

एक अन्य ताम्र–मुद्रा उज्जैन से मिली है।[2] उसके पुरोभाग पर पद्मासना लक्ष्मी का अङ्कन और निम्नभाग में ब्राह्मीलिपि में 'भानुमितस' (भानुमित्र) नाम अङ्कित है, वामभाग रिक्त है।

एक अन्य आयताकार ताम्र–मुद्रा मालवा क्षेत्र में सीहोर जिला अन्तर्गत नर्मदा नदी तट पर स्थित स्थल नादनेर (नन्दि नगर) से 'राञो भानुमितस' (राजा भानुमित्र) नामाङ्कित मिली है। इसके पुरोभाग पर वेदिका वृक्ष, बायीं ओर एक वृत्त उज्जयिनी चिह्न तथा निम्नभाग में मत्स्य–सरित् चिह्न और दाहिनी ओर मुद्रा के किनारे के पास ब्राह्मीलिपि में 'राञो भानुमितस' (राजा भानुमित्र) नाम अङ्कित है। वाममाग रिक्त है। डॉ. परमेश्वरीलाल गुप्त महोदय[3] ने नादनेर (नन्दि नगर) से प्राप्त इस मुद्रा सहित अन्य सात मुद्राओं को विदिशा क्षेत्र से उपलब्ध मुद्राओं की सूची में संयुक्त किया है। उनके अनुसार निम्नलिखित शासक वर्णित हैं-

1. भगिलाय
2. दामभदस (दामभद्र)
3. राञो भानुमितस (राजा भानुमित्र)
4. राज्ञो हथदेव (राजा हस्तिदेव)
5. राञो रविभूतिस (राजा रविभूति)
6. राञो भूमिदतस (राजा भूमिदत्त)
7. नारायण मितस (नारायणमित्र)

उनका अभिमत है कि दामभद्र और भानुमित्र के सिक्कों पर एक समान प्रतीक अङ्कित होने से वे दोनों एक ही परिवार के जान पड़ते हैं। पुराणों की सूची के अन्तर्गत परिगणित नामों के समान इन शासकों के ये नाम दिखाई नहीं देते। इस कारण वे इन शासकों को शुङ्ग और कण्व शासकों से सम्बद्ध वंश का नहीं मानते। उनके मतानुसार उपरोक्त वर्णित शासक कण्ववंश के पश्चात् ही शासक रहे होंगे।

आचार्य के.वी. तिवारी[4] ने सन् 1993 में नादनेर से प्राप्त सिक्कों में राञो भानुमितस (राजा भानुमित्र) नामक शासक की एक आयताकार ताम्रमुद्रा का वर्णन किया है। इस मुद्रा के पुरोभाग पर वेदिका वृक्ष, बायीं ओर एक वृत्त उज्जयिनी चिह्न और निम्नभाग में मत्स्य–सरित् चिह्न अंकित है। इसमें भानुमित्र की उपाधि राजा दी गई है। इस प्रकार भानुमित्र नामाङ्कित मुद्राएँ चार विभिन्न स्थलों से प्राप्त विभिन्न प्रतीकों से युक्त हैं। विद्वानों ने लिपि के आधार पर उसका शासनकाल प्रथम सदी ईसा पूर्व अनुमानित किया है।

मन्दसौर से प्राप्त ताम्र–मुद्रा पर मात्र भानुमित्र नाम अङ्कित है, उसकी राजा उपाधि नहीं है। किन्तु इस मुद्रा की विशेषता यह है कि इस पर वृक्ष, एक वृत्त उज्जयिनी चिह्न के साथ दण्ड–कमण्डलुधारी शिव का अंकन है। शिव तथा वृक्ष और एक वृत्त उज्जयिनी चिह्न ''राजा–विक्रम'' नामाङ्कित

मुद्राओं पर भी अङ्कित है। अतएव यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उपरोक्त वर्णित यह ताम्र–मुद्रा उज्जयिनी नगर की टकसाल से जारी की गई होगी तथा भानुमित्र विक्रमादित्य का समकालीन रहा होगा।

अध्यक्ष
अश्विनी शोध संस्थान
महिदपुर (म.प्र)

सन्दर्भ-

1. ब्रिटिश म्यूजियम क्वायन्स, एंशियण्ट इंडिया, पृष्ठ 185, फलक 27
2. स्वर्गीय डॉ. नागू मुद्रा संग्रह, इन्दौर
3. पूर्वमध्यकालिक सिक्के; परमेश्वरीलाल गुप्त, पृष्ठ 198-200
4. जर्नल-न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया, 1993, पृष्ठ 50-53

विक्रमादित्यकालीन साँची के दानदाता और चतुर्भाणी

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

साँची के स्तूप विश्वप्रसिद्ध हैं। उसके स्तूपाङ्कित दानदाताओं में अनेक उज्जयिनी के हैं। उनमें से कतिपय नाम चतुर्भाणी में सम्मिलित उज्जयिनीसम्बद्ध शूद्रककृत पद्मप्राभृतक में भी अङ्कित हैं। इनमें से एकाध का सम्बन्ध उस भाण के मूलदेव से भी है। प्रथम शताब्दी की बृहत्कथा के संस्कृत-रूपान्तरों तथा अन्य अनेक पारम्परिक कथाओं के अनुसार मूलदेव संवत्प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालीन था। इस मूलदेव के ईसवी पूर्व की ब्राह्मीलिपि में अङ्कित नामोल्लेखों सहित सिक्के अयोध्या से, मृण्पात्रखण्ड कसरावद से और मिट्टी की सील अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर (उज्जैन) से प्राप्त हो चुकी है। अतः ईसवी पूर्व प्रथम शती में मूलदेव के अवन्ती क्षेत्र में अस्तित्व में सन्देह नहीं रहता। वह विक्रमादित्य के पास में ही बना रहता था। 'ततोऽब्रवीन्मूलदेवो धूर्तो राजान्तिकस्थितः।' (कथासरि. 10/5/129)

शूद्रक के पद्मप्राभृतक के अनुसार इस मूलदेव की गणिका-प्रेमिका का नाम विपुला था।

विपुलागतमेव हृदयम्। तदपि मूलदेवीयं शाठ्यम्।12/2

कर्णीपुत्रो विपुलामनुनेतुमभिगतः।13/9

कर्णीसुतकथेव सन्निहित विपुलाचला शशोपगता च (कादम्बरी)

इसका अचला सहित उल्लेख बाणभट्ट ने भी किया है। इस विपुला का एक दानलेख ईसवी पूर्व की लिपि में साँची के स्तूप पर अंकित है। एक लेख में विपुला की भगिनियों के दान का उल्लेख है। यह लेख कुछ वर्ष पूर्व ही प्राप्त हुआ जो **विक्रमार्क** पत्रिका के इसी अङ्क में सर्वप्रथम प्रकाशित हो रहा है।

विपुलभगिनिन दानं। अर्थात् विपुल की भगिनियों का दान। यह सम्भव है कि विपुला का भाई विपुल हो और उसकी अनेक बहने हों। विप्र भगमिन् दान के अनेक बहनें होंगी। साँची और पद्मप्राभृतक दोनों में विपुला को उज्जैन की बताया गया है। अतः विपुला ईसवी–पूर्व के विक्रमादित्य के समय उज्जैन में विद्यमान थी और उसने साँची में दान दिया था। मूलदेव का मित्र शश था। उसका उल्लेख अँवलेश्वर लेख में है।

शश का व्यक्तित्व प्रभावशाली तथा ऐसा आकर्षक था कि वराहमिहिर की बृहत्संहिता, विष्णु-धर्मोत्तरपुराण और भोज के समरांगणसूत्रधार में वर्णित पञ्चमहापुरुषों में शश तथा मालव के लक्षण दिये

गये हैं। शश के सिक्के तक्षशिला-क्षेत्र से प्रचुर मात्रा में मिले हैं। जिन पर वहाँ की स्थानीय खरोष्ठी आदि लिपियों में नाम और उपाधियाँ प्राप्त होती हैं। यह सम्भव है कि पूर्वोक्त मूलदेव का मित्र यही शश हो जो विक्रमादित्य के राज्य के उत्तरपश्चिम क्षेत्र का राज्यपाल रहा और वहाँ अपने न केवल सिक्के चलाये अपितु वहाँ की परम्परानुसार 'अप्रतिहतचकस देवव्रदस' जैसी उपाधियाँ भी प्राप्त कीं।

पद्मप्राभृतकभाण (23/4) में उज्जैन के संघिलक का उल्लेख किया गया है। यह उज्जैन के धर्मारण्य का निवासी शाक्य (बौद्ध) भिक्षु था। यह विहार से आता हुआ बताया गया है। आ स एष धर्मारण्य निवासी संघिलको नाम दुष्टशाक्यभिक्षुः। (23/4) साम्प्रतं विहारादागच्छामि। (23/14) साँची स्तूप पर ईसवी पूर्व के दानलेखों में उज्जैन के संघक, संघदत्त और मडिक के शिष्य संघिल के दानलेख भी हैं। ये सब एक ही व्यक्ति के अलग-अलग दान के समय के लेख प्रतीत होते हैं। क्योंकि संघदत्त नामक का संक्षिप्त-रूप संघक और संघदत्त का ही देशी या बोलचाल रूप संघिल बन जाता है। जैसे रामदत्त का रामिल या सोमदत्त का सोमिल रूप बन जाता है। परम्परा में आज तक भील आदिवासी-समाज में रामलो या हो(सो) मलो नाम पाये जाते हैं। जो रामिल या सोमिल के समरूप ही हैं।

साँची के दानलेखों में उज्जैन के आर्यनाग के दो दानलेख हैं। एक में उज्जैन के थेर आर्यनाग का उल्लेख है और दूसरे में केवल आर्यनाग नाम लिखा गया है। पद्मप्राभृतकभाण (20/5) में आर्य नागदत्त का उल्लेख पाया जाता है। यह सुकुमार गायक था।

सुकुमारगायकस्य आर्यनागदत्तस्य।(20/5)

यह सम्भव है कि इस आर्य नागदत्त ने साँची में दान दिया हो जिसका उल्लेख आर्यनाग नाम से ही किया गया हो।

यह उल्लेखनीय है कि ये सब साँची के दानदाता उज्जयिनी के ईसवी पूर्व के हैं और विक्रमसंवत्-प्रवर्तक उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के समकालीन रहे। इनमें से विपुलादि के अस्तित्व की पुष्टि कादम्बरी आदि अन्य साहित्यिक-स्रोतों से भी हो जाती है। कादम्बरी में मूलदेव-प्रेमिका पूर्वोक्त अचला का उल्लेख हुआ है। नन्दिनगर (नान्देर) की वह भिक्षुणी थी। भोपाल के निकट नान्देर के उत्खनन से ईसवी पूर्व के अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं। साँची में अचला के दो दानलेख हैं। एक में उसे नन्दिनगर का बताया है और दूसरे में केवल अचला नाम लिखा गया है।

यह भी उल्लेखनीय है कि ये सब नाम चतुर्भाणी के केवल पद्मप्राभृतक भाण में प्राप्त होते हैं, शेष तीन भाणों में नहीं प्राप्त होते हैं। अतः इस भाण में उस युग के जीते-जागते पात्रों की उपस्थिति पाई जाती है। इसलिए यह अपने युग का अधिक विश्वसनीय विवरण देता है। यह पूरा भाण उज्जैन से सम्बद्ध है।

साँची स्तूप पर दक्षिणाजि (दक्षिण की) हाला का भी दानलेख है। हाल की गाहासत्तसई है ही सही। कालिदास के मेघदूत में हाला है- हित्वा हालामभिमतरसां। मनचाहे रस वाली हाला। मुद्रालङ्कार में कवि ने इस हाला का भी उल्लेख कर दिया हो, यह सम्भव है।

चतुर्भाणी में उज्जैन से सम्बन्धित एक और भाण पादताडितक है। उसमें साँची-दानदाता का एक भी नाम नहीं है। परन्तु बृहत्कथा सहित प्राचीन विविध ग्रन्थों में विद्यमान ऐसी विभूतियों के विवरण उसमें

हैं जो ईसवी पूर्व के विक्रमादित्य के समकालीन और उनसे सम्बद्ध थे। उनका विवरण इस प्रकार है।

1 **महाप्रतीहार भद्रायुध** - बृहत्कथा के संस्कृत-रूपान्तर कथासरित्सागर, बृहत्कथामञ्जरी इत्यादि के विक्रमादित्य-सम्बद्ध विषमशीललम्बक में महाप्रतीहार भद्रायुध को विक्रमादित्य का प्रिय वीर प्रतीहार बताया गया है। विक्रमादित्य के बचपन के साथियों में वह भी एक था। प्रतीहार भी मन्त्री ही होता था।

सुमतेर्मन्त्रिणः पुत्रो जज्ञे नाम्ना महामतिः ॥
क्षत्तुर्वज्रायुधस्यापि पुत्रो भद्रायुधोऽजनि।
श्रीधरोऽजायत सुतो महीधरपुरोधसः ॥
तैस्त्रिभिर्मन्त्रितनयैः सह राजसुतोऽत्र सः।
ववृधे **विक्रमादित्य**स्तेजोवीर्यबलैरिव ॥

(कथासरित्सागर, विषमशील लम्बक, 1/52-54)

मन्त्री, प्रतीहार और पुरोहित भी मन्त्री ही होते थे।

चतुर्भाणी में श्यामिलकरचित पादताडितक भाण उज्जैन से सम्बद्ध है। उसमें महाप्रतीहार भद्रायुध नामक विट उज्जैन की गणिका-वीथी में बताया गया है। उसमें विस्तार से वह विवरण पाया जाता है जो इस प्रकार (56/6 से 62) है-

एतज्जङ्गमतीर्थमुदीच्यानां बाह्लीकानां कारूशमलदानां चेश्वरो महाप्रतीहारः भद्रायुध एषः।
विरचितकुन्तलमौलिः श्रवणार्पितकाष्ठविपुलसितकलशः।
जनमालपञ्जकारैरुन्नाटयतीव लाटानाम् ॥57॥
का तावदस्य लाटेषु साधुदृष्टिः एतावत्।
अथवास्यैवैकस्य देशान्तरविहारो युक्तः। कुतः ?
येनापरान्त–शक–मालवभूपतीनां कृत्वा शिरस्सु चरणौ चरता यथेष्टम्।
कालेऽभ्युपेत्य जननीं जननीं च गङ्गामाविष्कृता मगधराजकुलस्य लक्ष्मी : ॥60॥
अपि च वेलानिलैर्मृदुभिराकुलितालकान्ता
गायन्ति यस्य चरितान्यपरान्तकान्ता : ।
उत्कण्ठिता : समवलम्ब्य लतास्तरूणां
हिन्तालमालिषु तटेषु महार्णवस्य ॥61॥
किञ्चिद् गीतम्-
उहि माणुसोत्रि भट्टाउहेण णवि लिच्चइ आउहे अ।
सोण्णारि तस्य कम्मसिद्धिं विघसु खलु भुंजति सोकरसिद्धि ॥62॥

इसका अनुवाद इस प्रकार है –

यह (विटों का) चलता-फिरता तीर्थ है। यह उदीच्यों (उत्तर के), बाह्लीकों (अफगानोत्तर पश्चिम) कारूश (बिहार का शाहाबाद प्रदेश), मलद (बंगाल का मालदा क्षेत्र) का स्वामी महाप्रतीहार

भद्रायुध है। इसने सिर के बाल भलीभाँति सँवार रखे हैं। कान में काठ का बना बड़ा श्वेत कलश पहने लोगों से बातचीत में ज-ज का उच्चारण करते हुए लाट (गुजरातियों) की नकल कर रहा है। अकेले इसको ही विदेश में मौज-मजा फबता है। क्योंकि–

इसने अपरान्त (कोंकण–सह्याद्रि–समुद्र के मध्य का क्षेत्र), शक (गुजरात सहित उत्तर-पश्चिम), मालव (अवन्ती से उत्तर-पश्चिम और पंजाबी मालवा का प्रदेश) के राजाओं के सिरों पर अपने पैर रखकर उन्हें झुका दिया और यथेष्ट विचरण करते हुए कालान्तर में अपनी माता और गङ्गा माता के क्षेत्र में पहुँचकर मगध-राजकुल की लक्ष्मी को लोक में प्रकट कर दिया। और भी -

सागर-तट के कोमल पवन से फरफराते केशों वाली अपरान्त की उत्कण्ठित रमणियाँ महासागर के तटों के हिन्ताल के कुञ्जों में तरु -लताओं का आसरा लेकर उसके चरित-गीत गाती हैं। वह गीत क्या है? इस प्रकार है मानवता और आयुधविद्या में भद्रायुध के साथ कोई बराबरी नहीं चाहता। उसके कर्मों की सफलता सुनकर उसकी बराबरी करना चाहने पर तो निश्चय ही सूअर का भोजन (विष्ठा) खाता है।

यह पूरा विवरण स्पष्ट करता है कि वह भद्रायुध अप्रतिहत था। मानवता और वीरता में वह अप्रतिम था। उसकी बराबरी करने की कोई सोच भी नहीं सकता था। तत्सम्बन्धी यह विवरण स्पष्ट होता है।

(1) मगधराजकुल की लक्ष्मी को उसने लोक में प्रकट किया।

(2) यह मगध उसकी माता और गङ्गा माता का क्षेत्र था अर्थात् मगध का निवासी था।

(3) वह चलता-फिरता (विटों का) तीर्थ था ; अर्थात् परम विट था।

(4) वह महान् विजेता था।

(क) वह उदीच्य, बाह्लीक, कारूश, मलद का स्वामी था अर्थात् उत्तरभारत के बंगाल से बल्ख तक क्षेत्र का स्वामी था।

(ख) अपरान्त, शक (राज्य), मालव (अवन्ती से बाहरी और पंजाबी मालवा) को इसने पराजित कर (करद बना) दिया।

(5) सागर-तट तक राज्य होने से वहाँ तक उसके यशोगीत गाये जाते हैं।

(6) इतना वर्चस्वसम्पन्न होने पर भी वह महाप्रतीहार पद से ही प्रसिद्ध था।

कथासरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य का यह एक मन्त्री था। मन्त्रियों को तब राजा की उपाधि देकर राज्य या सूबा सौंप देते थे। ये महान् विजेता होकर भी अपने सम्राट् के प्रति वफादार होते थे और उनके लिए ही वे विजयें करते रहते थे। विक्रमादित्य का ऐसा ही एक सहायक लङ्का तक से कन्योपायन अपने राजा के लिए ले आया था। यह पद्धति मध्यकाल तक प्रचलित रही। प्रतीहार का पद बढ़ाकर भद्रायुध को महाप्रतीहार का पद इसीलिए दिया गया होगा। जब अधीनस्थ वीर इतने प्रतापी थे तो प्रधान राजा सम्राट् विक्रमादित्य कितना वीर और प्रतापी रहा होगा ?

(7) यह भद्रायुध अपने सम्राट् विक्रमादित्य से मिलने समय-समय पर आता रहता था और उसके साम्राज्य को भी शक्ति-समृद्धिसम्पन्न करता रहता था तथा उसका विस्तार करने के लिए निरन्तर सैन्य-

अभियान पर रहता था। विक्रमादित्य से मिलने आने पर वह उज्जैन के रसिक-समाज व गोष्ठियों का भी आनन्द लेता रहता था। उज्जैन उसकी केन्द्रीय राजधानी थी और पटना उसकी क्षेत्रीय राजधानी थी।
(8) भद्रायुध छैल-छबीला रसिया था। वह उज्जैन के विटों में मान्य था। वह यहाँ शूर्पारक (सोपारा) की वेश्या रामदासी के घर से निकलकर गुजराती डिण्डियों से घिरा है और उनके समान ही ज-ज-ज- करते हुए बात करता है।
(9) इसने सिर के बाल भलीभाँति सँवार रखे थे और कानों में काठ के बने बड़े श्वेत कलश पहनता था।
(10) देश-देश में इसे मौज-मजा फबता है।

इस प्रकार इस भद्रायुध की वीरता, दिग्विजयें, प्रसिद्धि और रुचियों का सङ्क्षेप में भलीभाँति परिचय चतुर्भाणी के भाण से प्राप्त हो जाता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। यह उल्लेखनीय है कि भाण का वक्ता विट जो भी सामने दिखाई देता उसकी पोल खोलता रहता है। उससे कोई बच नहीं पाता। परन्तु केवल इस भद्रायुध के प्रति इतना आदर रहा कि उसकी केवल प्रशंसा और कुछ शिष्ट वास्तविकताएँ प्रकट की गयी हैं। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का वह समकालीन महत्त्वपूर्ण पद का व्यक्ति था। इससे भी स्पष्ट होता है कि यह भाण कथासरित्सागर के भद्रायुध और विक्रमादित्य के समकाल का प्रत्यक्ष लेखा-जोखा है।

जब विक्रमादित्य का एक प्रतीहार इतना वर्चस्वसम्पन्न था तो स्वयं विक्रमार्क का वर्चस्व कल्पनातीत है। इसीलिए मिताक्षरा में कहा गया है कि विक्रमार्क के समान कोई राजा पृथ्वी पर न देखा गया, न सुना ही गया।

नो दृष्टः श्रुत एव वा क्षितितले **श्रीविक्रमार्को**पमः।

2. **हरिश्चन्द्र** पादताडितक भाण (16/2) में हरिश्चन्द्र भिषक् को उज्जैन की विटसभा में आमन्त्रित किया जाता है। उसका परिचय देते हुए कहा गया है (39/2)

एष हि बाह्लिक काङ्कायनो भिषगैशानचन्द्रिः हरिश्चन्द्रश्चन्द्र इव कुमुदवापीं वेशवाटीमवभासयन्नित एवाभिवर्तते।

प्रियङ्गुयष्टिकामौषधेन सम्भाव्यागच्छामि।

अर्थ – यह बाह्लिक (निवासी) काङ्कायन (गोत्र के) वैद्य ईशानचन्द्र का पुत्र हरिचन्द्र चन्द्रमा के समान कुमुदवापी-रूपी वेशवाटी (बेसवाड़ी) को उजलाता हुआ इधर ही आ रहा है। (वह कह रहा है कि) प्रियङ्गुयष्टिका को दवा देकर आ रहा हूँ।

चरक ने काङ्कायन बाह्लिक भिषक् के मत का उल्लेख (सूत्रस्थान, 26,3,14) किया है। नावनीतक (ई.दूसरी सदी) में काङ्कायन (5/935) का उल्लेख किया है। (चतुर्भाणी भूमिका पृ. 10) इससे स्पष्ट है कि यह काङ्कायन-परिवार वंशपरम्परा से ही सुप्रसिद्ध वैद्य था। इसीलिए ऐसे दक्ष वैद्य-वंशज को उज्जैन में बुलाकर विक्रमादित्य ने राजवैद्य और भट्टारक का मान देकर बसा लिया होगा। हरिश्चन्द्र को ही लोक में हरिचन्द्र भी कहते थे। यह द्विरूपकोश से भी स्पष्ट है।

महेश्वर के विश्वप्रकाशकोश के अनुसार भट्टारक हरिचन्द्र **साहसाङ्क** नृपति के राजवैद्य थे।

राजशेखर ने हरिचन्द्र और चन्द्रगुप्त की विशाला अर्थात् उज्जयिनी में काव्यपरीक्षा का उल्लेख किया है।

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा।

हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्।

बाणभट्ट के हर्षचरित में हरिचन्द्र के मनोहर गद्यग्रन्थ की प्रशंसा की गयी है।

पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थिति :।

भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥

परम्परा में कई वैद्य समर्थ साहित्यकार होते रहे। इस श्लोक से स्पष्ट है कि हरिचन्द्र भट्टार अर्थात् राजा था। पहले कहा गया है कि वह साहसाङ्क का राजवैद्य था। अतः उसे किसी क्षेत्र का सामन्त राजा बना दिया गया होगा। क्योंकि वह राजवैद्य के साथ ही समर्थ साहित्यकार भी था। वैद्यराज हरिचन्द्र को एक परम्परागत श्लोक में राजा विक्रम का सौतेला भाई बताया गया है –

राजा भर्त्तृहरिश्च **विक्रम** नृपः क्षत्रात्मजायामभूत्

वैश्यायां हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शङ्कुः कृती।

चरक की टीका श्रीसाहसाङ्क नृपति के उत्तम वैद्य हरिचन्द्र ने की थी। यह इस श्लोक से स्पष्ट है।

श्रीसाहसाङ्क नृपतेरनवद्यवैद्यविद्यातरङ्गपदमद्वयमेव बिभ्रत्।

यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलं चकार॥

इस सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि हरिचन्द्र **साहसाङ्क विक्रमादित्य** का समकालीन ही नहीं उसका राजवैद्य भी था।

इस विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पादताडितक भाण के भद्रायुध और हरिचन्द्र विक्रमादित्य के समकालीन और राज्य के सामन्त राजा थे। परन्तु उनमें भी भद्रायुध अधिक सम्माननीय था। क्योंकि भाण में भद्रायुध के प्रति आदरभाव प्रकट किया गया है। किन्तु हरिचन्द्र की विलासिता की पोल खोलने में विट नहीं हिचकता है।

इस सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि उज्जैन से सम्बन्धित पद्मप्राभृतक भाण के पात्रों की विक्रमादित्य- समकालीनता साँची के दानलेखों से होती है और पादताडितक भाण के पात्रों की विक्रमादित्य की समकालीनता अन्य विभिन्न साहित्यिक स्रोतों से होती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ईसवी पूर्व विक्रमादित्य की उज्जयिनी के लोगों की भिन्न–भिन्न प्रकार की विशेषताएँ तत्कालीन और परवर्तीपरम्परा में उल्लेखनीय बनी रहीं। जिस राज्य की जनता इतनी उन्नत हो उसका राजा और राज्य तो और भी उल्लेखनीय और सर्व प्रशंसित रहा। इसीलिए प्रायः 21 शताब्दियों से उसका मुग्धभाव से जनता स्मरण कर रही है।

पादताडितक भाण में नगर का वर्णन करते हुए कहा गया है -

एषोऽस्मि नगररथ्यामवतीर्णः । अहो खलु जम्बूद्वीपतिलकभूतस्य सर्वरणाविष्कृतविभूतेः सार्वभौमनरेन्द्राधिष्ठितस्य सार्वभौमनगरस्य पराश्रीः। (21/8-9)

इसमें नगर की ये विशेषताएँ बताई गयी हैं–

(1) जम्बूद्वीप का तिलक (2) सर्वरणाविष्कृतविभूति (3) सार्वभौमनरेन्द्राधिष्ठित (4) सार्वभौमनगर (5) पराश्रीः।

शूद्रक के पद्मप्राभृतक भाण में उज्जयिनीवर्णन में कहा गया है–

अहो खलु वसुन्धरावधूजम्बूद्वीपवदनकपोलपत्रलेखाया नानाभाण्डसमृद्धाया अवन्तिसुन्दर्या उज्जयिन्याः पराश्रीः।

इसके अनुसार उज्जैन की विशेषताएँ हैं–

(1) जम्बूद्वीप के कपोल की पत्रलेखा (2) नानाभाण्डसमृद्धा (3) अवन्तिसुन्दरी उज्जयिनी (4) पराश्रीः।

दोनों भाण में उज्जयनी को जम्बूद्वीप का सुन्दर और प्रधान नगर बताया गया। दोनों भाण में उसकी पराश्रीः अर्थात् अपूर्व शोभा सम्पन्नता है। कालिदास ने भी कहा है – श्रीविशालां विशालां (मेघदूत)। कादम्बरी में भी 'सकलत्रिभुवनललामभूता' विजितामरलोकद्युति उज्जयिनी बतायी गयी है।

मेघदूत की 'दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम्' उक्ति भी ऐसी है। परन्तु पादताडितक में इनके अतिरिक्त भी ये बातें कही गयी हैं; –

(1) समस्त रणों या युद्धों से अर्जित विभूतियों से सम्पन्न (2) समस्त युद्धों में विजय के कारण राजा भी सार्वभौम है, क्योंकि समस्त भूमि पर उसका स्वामित्व है। (3) समस्त भूमि के स्वामी की राजधानी होने से सार्वभौम नगर है यह उज्जयिनी। यह उल्लेखनीय है कि एक पौरव तथा एक द्रुह्यु राजा का नाम सार्वभौम था। सार्वभौम कुछ पौराणिक राजाओं की उपाधि भी थी। परन्तु पादताडितक का सार्वभौम पौराणिक राजा नहीं है। यह सार्वभौम विशेषण वाला पूरी भूमि पर यश-पताका फहराने वाला उज्जैन का परम प्रतापी राजा विक्रमादित्य ही हो सकता है।

बृहत्कथा के संस्कृत-रूपान्तरों सहित समस्त कथासाहित्य और अन्य सन्दर्भों के अनुसार इतिहास की ज्ञात परिधि में उज्जैन का ऐसा अप्रतिहत सार्वभौम राजा केवल विक्रमादित्य था। विक्रमादित्य के एक रत्न क्षपणक के द्वि–अर्थ कोष में वीर शब्द के दो अर्थ बताये गये हैं विक्रम और बान्धव-वीरौ विक्रमबान्धवौ।

वीर का अर्थ यहाँ वीरता नहीं है, सञ्ज्ञा है। क्योंकि उस कोश में केवल सञ्ज्ञा का सङ्कलन किया गया है। भाई को पंजाबी में आज भी वीर कहा जाता है। मालवी लोकगीतों में भी भाई को वीरा कहा जाता है।

स्पष्ट ही पद्मप्राभृतक और पादताडितक दोनों ही भाण विक्रमादित्य-युग का जीता जागता परिदृश्य हैं।

राजा शूद्रक

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

यह माना जाता है कि शूद्रक आन्ध्रभृत्य स्वाति का सेवक था। अपने स्वामी से लड़ाई करके उसे बड़े कष्ट उठाने पड़े। अन्त में उसने स्वाति को हटाकर उज्जैन की गद्दी पर अधिकार कर लिया। डॉ. मोतीचन्द्र ने यह वर्णन दिया है (चतुर्भाणी, भूमिका, पृष्ठ 5)।

शूद्रक वीर था, विजेता था और ग्रन्थकार भी था। यह मृच्छकटिक का मत है। उसने शकों को पराजित किया, यह समुद्रगुप्त का मत है। स्कन्दपुराण के कुमारिकाखण्ड के अनुसार शूद्रक कलि संवत् 3290 में हुआ। इसमें 3101 वर्ष कम करने पर ईसवी सन् 189 आता है। यह शूद्रक का निश्चित समय है।

शूद्रक उज्जैन का राजा बताया जाता है। उसके दोनों रूपक उज्जैन का गहन परिचय देते हैं। 189 ई. में अवन्ती क्षेत्र पर शकों का अधिकार बताया जाता है, जो अनुमान पर आधारित है।

150 ई. में उज्जैन पर रुद्रदामा का शासन था। फिर उसके पुत्र रूद्रसिंह प्रथम का 175 ई. तक रहा। तब रुद्रदामा के भाई जीवदामन् ने विद्रोह कर दिया और शकों का राज्य समाप्त हो गया। इतिहासकारों का अभिमत है कि इस समय के एक आभीर राजा ईश्वरदत्त का शिलालेख गुजरात से मिला है। सम्भव है उसने तब अवन्ती पर अधिकार कर लिया हो। परन्तु उस आभीर राजा का कोई साहित्यिक या पुरातात्त्विक प्रमाण मालवा से नहीं प्राप्त हुआ। अतः ऐसी अवस्था में स्कन्दपुराण में बताये गये पूर्वोक्त निश्चित तिथि के प्रमाण हमें स्पष्ट मार्गदर्शन करते हैं।

175 ई. में रुद्रदामा के भाई और पुत्र में संघर्ष चलने से राज्य की डावाँडोल स्थिति में वीर शूद्रक ने आक्रमण कर अवन्ती राज्य पर अधिकार कर लिया होगा।

समुद्रमुप्त के अनुसार उसने शकों को पराजित किया (शकान् जित्वा। श्लोक।)। इससे पूर्व विक्रमादित्य ने शकों को पराजित किया था। दोनों ने शकों को पराजित कर अश्वमेध किये थे। अतः समुद्रगुप्त दोनों शकारियों को एक मानने की भूल अपने कृष्णचरित में कर बैठा।

अतः शूद्रक का 189 ई. में उज्जैन का राजा होना सम्भव है। शूद्रक से पराजित होकर शक उसके अधीनस्थ राजा मालवा या बाहर बने रहे और पूर्व के समान अपने सिक्के चलाते रहे। जिससे राज्य में लेन-देन का क्रम अबाध रहे। यही कारण है कि उनके क्षत्रप या महाक्षत्रप के सिक्के प्राप्त होते रहे। यह

उसी प्रकार होता रहा जिस प्रकार अँग्रेजीराज में देशी राज्यों के सिक्के भी प्रचलित रहते थे।

इस प्रकार शक-विजेता राजा ये रहे। सर्वप्रथम उज्जैन का विक्रमादित्य जिसने विक्रम संवत् चलाया। परम्परा फिर इस विक्रमादित्य का पौत्र शालिवाहन जिसने अपने पिता की हत्या का बदला लेकर शकों को पराजित कर शकशालिवाहन संवत् चलाया 78 ई. में। उसके बाद 189 ई. में शूद्रक ने रुद्रदामा के पुत्र और भाई को हराया। फिर समुद्रगुप्त ने शक–मुरुण्डों को अधीन किया और उन्हें कन्योपायन के लिए मजबूर किया। उसके बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अन्तिम बार रूद्रसिंह शक तृतीय को हराकर सत्ताच्युत कर दिया।

पद्मप्राभृतक में विक्रमादित्ययुगीन उज्जयिनी है। उसका कर्ता शूद्रक है। भास के चारुदत्त का संशोधित-परिवर्धित रूप मृच्छकटिक का कर्ता भी शूद्रक है। शूद्रक भी वीर और लोकप्रिय कथानायक हो गया था। परवर्तीकाल में समुद्रगुप्त के युग में ही विक्रमादित्य और शूद्रक को एक मानने का भ्रम स्थापित हो गया था। समुद्रगुप्त के कृष्णचरित से यह स्पष्ट हो जाता है। मृच्छकटिक में शूद्रक की सौ वर्ष दस दिन आयु बताई गयी है। बृहत्कथा के कथासरित्सागर की वेतालपञ्चविंशतिकथा (4) के अनुसार शूद्रक शतायु था। विक्रमादित्य ने सौ वर्ष राज्य किया यह भविष्यपुराण से ज्ञात होता है। अतः भूमिका के श्लोक रचना के बाद में जोड़े गये जब समुद्रगुप्त तक शूद्रक और विक्रमादित्य को एक मानने लग गया था।

तन्नैष राजा म्रियते जीवत्यन्यत्समा शतम्॥151॥

शिवाज्ञया च नृपति**र्विक्रम**स्तनयस्ततः। शतवर्षं कृतं राज्यं। (भविष्यपुराणं भाग 2, पृष्ठ 586)

लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥ (मृच्छटिकम् 1/4)

समुद्रगुप्त के कृष्णचरित और मृच्छकटिक के शूद्रक वर्णन की समता मेरी ''शूद्रक'' पुस्तक (पृष्ठ10-12) पर वर्णित है।[1]

विक्रमादित्य का सर्वमान्य समय है ईसवी पूर्व 57 और स्कन्दपुराण (कुमारिकाखण्ड) के अनुसार शूद्रक का समय है कलिसंवत् 3290। वह विवरण इस प्रकार है–

त्रिषु वर्षसहस्रेषु कलेर्यातेषु पार्थिव!।
त्रिशतेषु दशन्यूनेष्वस्यां भुवि भविष्यति॥
शूद्रको नाम वीराणामधिपः सिद्धिमत्र सः।
चर्चितायां समाराध्य लप्स्यते भूभयापहः॥

तदनुसार प्रायः 189-190 ई. में शूद्रक का अवन्ती पर राज्य हुआ। यह विक्रम संवत् आरम्भ से प्रायः 246 वर्ष बाद की घटना है। इस समय रुद्रदामा का पुत्र और जीवदामा का काका रुद्रसिंह क्षत्रप और महाक्षत्रप था और उनके शिलालेख और सिक्के मिलते हैं।

1.राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2013

मत्स्येन्द्रेय के सिक्के

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

भारतीय परम्परानुसार नवनाथों में मत्स्येन्द्रनाथ सर्वप्रथम माने जाते हैं। ये गोरक्षनाथ के गुरु थे। कौलमत के भी ये प्रवर्तक माने जाते हैं। कौल-परम्परानुसार मत्स्येन्द्रनाथ राजा थे। इनकी कई रानियाँ और अनेक पुत्र थे। इनके छः पुत्रों ने कौलमत की छः शाखाओं का प्रवर्तन किया था। ये सभी सम्प्रदाय अत्यन्त गूढ़ थे।[1] आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ और नाथपरम्परा प्रायः नौवीं सदी से आरम्भ होती है। मत्स्येन्द्रनाथ का उल्लेख दसवीं-ग्यारहवीं शती के अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'मच्छिन्दविभु' नाम से किया है। राजशेखर ने दसवीं शती के आरम्भ में अपने कर्पूरमञ्जरीसट्टक में कौलधर्म की विशेषताओं का उल्लेख किया है।

सन् 1957 में प्रकाशित डॉ.एच.वि. त्रिवेदी की 'नाग क्वाइंस' पुस्तक की प्लेट 6 में 33-34 क्रम के दो प्राचीन सिक्कों के फोटो पर ईसवी पूर्व प्रथम–द्वितीय शती की ब्राह्मीलिपि में लिखा है– मासतन्द्रेय। इस मासतन्द्रेय प्राकृत शब्द का संस्कृत-रूप होता है मात्स्येन्द्रेय। इस सिक्के पर तैरती मछली, षडरचक्र और उज्जयिनी चिह्न अङ्कित है। इसकी भाषा ईसवी सदी के आरम्भ के आसपास के सिक्कों–शिलालेखों पर प्राप्त संस्कृतमिश्रित प्राकृत जैसी ही है। ये सिक्के पद्मावती (पवाया, जिला ग्वालियर) से प्राप्त हुए थे।

मत्स्येन्द्रनाथ सिद्ध-परम्परा में माने जाते हैं। परम्परा भर्तृहरि को ईसवी पूर्व के उज्जैन के राजा विक्रमादित्य का अग्रज बताती है। भर्तृहरि नाथ-परम्परा में भी मान्य हैं और उज्जैन में शिप्रा-तट पर उनकी गुफा है जहाँ उन्होंने साधना की थी। अतः पारम्परिक भर्तृहरि और मत्स्येन्द्र के पुत्र के ये सिक्के प्रायः समकालीन हैं। विक्रमादित्य सहित प्राचीन विभिन्न सिक्कों, सिक्कों के साँचों, मुद्राओं या मुद्राङ्कों पर नदी में मछलियों का अङ्कन मत्स्येन्द्रनाथ की प्रभाव–परम्परा का भी बोधक हो सकता है।

कालिदास अपने मेघदूत में अवन्ती-क्षेत्र में सिद्धयुगलों की चर्चा करते हैं। अतः उस समय सिद्ध-समुदाय विद्यमान था। सिद्धगण नाथों–कौलों–कापालिकों की परम्परा में माने जाते हैं। इससे भर्तृहरि, सिद्ध, कालिदास के साथ राजा मत्स्येन्द्र की समकालीनता या थोड़ी-बहुत पूर्वापरता प्रकट होती है।

1.संस्कृतवाङ्मय का बृहद् इतिहास (तन्त्र), पृष्ठ 308-309

अतः जो मत्स्येन्द्र ईसवी पूर्व में रहे और जिनके पुत्र के सिक्के प्राप्त होते हैं वे नाथ और कौल-परम्परा के प्रवर्तक हो सकते हैं। यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन उज्जयिनी के गढ़कालिका-क्षेत्र में शिप्रातट पर मत्स्येन्द्रनाथ की समाधि है जहाँ शरत् पूर्णिमा के दिन उत्सव भी होता है।

काव्य में नौ रसों की परम्परा है। ज्योतिष में ग्रह नौ माने गये हैं। उनसे सम्बन्धी रत्न भी नौ हैं। सम्राट् विक्रमादित्य के सभारत्न नौ हैं और मत्स्येन्द्र इत्यादि नाथ भी नौ हैं। मालवा की एक प्राचीन परम्परानुसार एक बार सभा में आसन्दियाँ लगी थीं। उसमें नाथों की आठ आसन्दियाँ तो भरी थीं परन्तु एक रिक्त थी। तब सभा में उपस्थित गोरखनाथ ने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ से पूछा कि यह खाली आसन्दी (कुर्सी) किसके लिए है ? मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा कि यह भर्तृहरि की है। गोरखनाथ ने कहा–वह तो अभी अवन्ती का राजा है। मत्स्येन्द्र ने कहा–विरक्त होकर शीघ्र ही आएगा। तब गोरखनाथ ने कहा – मै देख रहा हूँ कि आपकी माया उस पर फैल चुकी है। मैं जाता हूँ उसे लाने के लिए।

तब गुरु को प्रणाम कर गोरखनाथ अवन्ती के वन में गये। फिर भर्तृहरि आखेट में मृग को मारता है। और उसके रक्त से सने वस्त्र देखकर रानी अग्नि में जल मरती है। भर्तृहरि दुःखी होता है। गोरखनाथ माया से उसे उसी रानी जैसी कई रानियाँ दिखाते हैं। भर्तृहरि तब वैराग्य धारण कर लेते हैं और तब मत्स्येन्द्रनाथ की सभा की रिक्त आसन्दी भर जाती है। सभा में पूरे नौ नाथ हो जाते हैं।

'आख्यानमणिकोश' में विद्यमान भावभट्टि के आख्यान में विक्रमादित्य-आख्यान है। उसमें भैरवानन्द का वर्णन पाया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि अपने वाहन श्वानसहित भैरव और ईसवी पूर्व प्रथम शती की ब्राह्मीलिपि में हर–भव विक्रम अङ्कित एक मृण्मुहर (सील) अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर (उज्जैन) में विद्यमान है जो महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, उज्जैन से प्रकाशित 'विक्रमादित्य और पुरातत्त्व' के पृष्ठ 22 पर क्रमाङ्क 11 पर प्रकाशित है।

इससे स्पष्ट है कि उस युग में भैरव-पूजा सुप्रतिष्ठित थी और उसे राजकीय मान्यता प्राप्त थी। पूर्वोक्त मासतेन्द्रेय (मत्स्येन्द्रेय) सिक्कों से स्पष्ट है कि मात्स्येन्द्रेय राजा भी उस समय विख्यात था। यह नाथ–कौल परम्परा के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र था और अपने पिता की प्रसिद्धि के कारण मात्स्येन्द्रेय नाम से ही प्रसिद्ध था। नाथ-कौल, भैरवपूजा आदि एक जैसी मनोवृत्ति के पोषक हैं।

निदेशक
महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
उज्जैन

विक्रमादित्य की रानी और भर्तृहरि

डॉ. बा.ना. मुण्डी

किसी एक समय एक विशाल नगरी थी। उसका नाम था उज्जयिनी। इस नगरी की स्थापना कब और किसने की ? इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं। त्रिपुरासुर–वध और महाकाल-वन में महाकालेश्वर की स्थापना ये ही प्राचीनत्व के उल्लेख मिलते हैं। रामायण, महाभारत, पुराणों में उज्जैन के उल्लेख हैं। यह समय कम से कम ख्रिस्त पूर्व 4000/5000 चार/पाँच हजार वर्ष इतना पुराना है, अर्थात् उतनी ही प्राचीन यह नगरी तो है ही। ''उज्जैन'' शब्दोच्चार के साथ भारतीय मनःपटल पर चित्र अङ्कित होता है वह महाकालेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग का, मोक्षदायिनी अवन्तिका का, परम पावनी श्री क्षिप्रा का तथा राजा विक्रम और उसके नवरत्न दरबार का, फिर भी उज्जैन के प्राचीनत्व का आविर्भावकाल का निर्णय करना सम्भव न होने से ही ''किसी एक समय'' तथा ''थी'' आदि भूतकाल वाचक शब्द का प्रयोग सार्थक ही है। महाकाल, क्षिप्रा, कालभैरव, नगरकोट की रानी, हरसिद्धि, गढ़कालिका, सान्दीपनि-आश्रम आदि प्राचीनत्व बोधक स्थल आज भी विद्यमान हैं। फिर भी प्राचीन उज्जैन नगरी तो आज विनष्ट हो चुकी है, अधोमुख हो गई है। वैसे उज्जैन सांस्कृतिक, राजकीय, आर्थिक, व्यापारिक, साहित्यिक, सामाजिक-दृष्टि से इस काल में अग्रगण्य थी। अनेकों राजवंशों की वह केन्द्र स्थान (राजधानी) थी। व्यापार की बहुत बड़ी पेठ थी, सार्थवाहों का मार्ग थी। पाण्डित्य, विद्वत्ता, साहित्य–कला–संस्कृति की, आध्यात्मिक-जीवन की भी वह केन्द्र रही है। प्राचीनत्व के मुखर, पुरातत्त्वीय अवशेष उँडासा (वेश्या टेकरी), गढ़कालिका आदि परिसर में स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े हैं। यहाँ हुए उत्खनन में उपलब्ध हुए हैं। पीर मत्स्येन्द्र, भर्तृहरिगुफा नाथ–सिद्धों से सम्पर्क सूचित करते हैं। कालिदासादि साहित्य–कला वैभव के, तो भास्कराचार्य ज्योतिष की दृष्टि से उज्जैन का अपूर्वत्व-महत्त्व दिग्दर्शित करते हैं। यही उसका रम्योज्ज्वल भूतकाल कविवर भा.स. ताँबेजी ने ठीक ही कहा है ;

''दगडा फुटतिल जिभा, कथाया कथा, सर्वकाली''

(तुम्हारी कथा कथन करने पत्थर भी सदा सर्वकाल मुखरित हो उठेंगे; पत्थर भी सवाक् होंगे)

प्राचीन भारतीय इतिहास का उज्जैन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्पर्क सूत्र है। प्राचीन भारतीय साम्राज्य; वैसे ही आर्य, हिन्दू, जैन, बौद्ध, आदि धर्म और संस्कृतियों का यह प्रमुख स्थान भी। किन्तु

इस नगरी का सुसूत्र, क्रमबद्ध इतिहास सामान्यतया ख्रिस्तपूर्व छठी शताब्दी से ही ज्ञात/प्राप्त होता है। भारत-भ्रमण पर आए हुएन्साँग, फाहियान, मेगेस्थिनीज, ईत्सिंग आदि यात्रियों द्वारा हूण, शकों आदि परकीयों के विषय में जैसी जानकारी मिलती है, वैसी ही जानकारी उज्जैन के गौरवपूर्ण पूर्व वैभव के उल्लेखों से पढ़ने को मिलती है, ऐसे इस वैभवसम्पन्न गौरवपूर्ण नगरी के दीर्घोज्ज्वल परम्परा की दिव्यज्योति सहस्रों वर्षों के कालावधि के पश्चात् भी यथावत् प्रज्वलित है। क्षिप्रा-पुलिन का कण-कण इस दिव्य ज्योति के प्रकाश में चमकता है, गौरव-गाथा कहता है।

किसी समय राजा विक्रम उज्जैन का राज्य करता था, उज्जैन और विक्रम अविभाज्य अङ्ग हैं।, एक दूसरे से निगडित, जुड़े हुए, सम्बद्ध, पर्यायवाची, विक्रम विरुद धारण करने वाले कई राजा उज्जैन से सम्बन्धित रहे, किन्तु विक्रमादित्य निश्चित-रूप से कौन? उसका आविर्भाव-काल कौन सा ? आदि अनेक बातें अभी विवाद्य, उनके विषय में गुत्थी बनी हुई हैं, विक्रम-महोत्सव, कालिदास-महोत्सव, भर्तृहरि-महोत्सव कई हुए और प्रतिवर्ष बड़ी धूम-धाम से मनाए जाते रहे हैं; चर्चाएँ, सङ्गोष्ठियाँ, विद्वानों के भाषण, प्रबन्धवाचन तथा ग्रन्थ-प्रकाशन, परिचर्चा आदि होते हैं। प्रकाण्ड पण्डित एकत्र होते हैं किन्तु अब तक निर्णयात्मक तथ्य/सत्य सामने आ नहीं पाया है; विक्रम अभी अनिर्णीत ही है।

वैसे उज्जैन और विक्रम के सम्बन्ध में कालकाचार्यकथा, सिंहासनबत्तीसी, बेतालपच्चीसी तथा कालीदासचातुर्यकथा और मालवा में सहस्रों की सङ्ख्या में प्रचलित लोककथाएँ, लोकगीत, अथवा ''माच'' जैसे लोकनाट्यों द्वारा उनके विषय में बहुत कुछ ज्ञात है। उज्जैन के जीवन पर प्रकाश डालने वाले लोकसाहित्य का अपरम्पार, अपार, अनन्त भण्डार उपलब्ध ज्ञात है। संस्कृत-प्राकृतसाहित्य में भी उज्जैन के इतिहास के सुवर्णकण इतस्ततः बिखरे पड़े हैं, उनकी परख और सुसूत्र गूँथने की आवश्यकता है। यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही व्यापक तथा कष्ट-श्रमसाध्य।

राजकीय-दृष्टि से महाराष्ट्र और उज्जैन–मालवा का सम्बन्ध बहुत कुछ ज्ञात है किन्तु राजकीय-इतिहास, घटनाक्रम-विवरण केवल कलेवर, शरीर, आत्मा का, अन्तरङ्ग का परिचय, तो अन्तस्थ स्थित्यन्तरों के अध्ययन से ही होता है। इसी दृष्टि से उज्जैन (मालवा) और महाराष्ट्र को सूक्ष्मरूप से एक सूत्र में ग्रथित करने वाला, उज्जैन के राजा विक्रमादित्य को एक आज तक अज्ञात कथा का सम्पर्क-सूत्र का परिचय करा लेना इष्ट एवं ज्ञानवर्धक तथा इतिहास-लेखन में सहायक भी सिद्ध हो सकता है। उज्जैनवासियों के लिए यह कथा तो एक नयी अनुभूति है ही, किन्तु महाराष्ट्र में भी यह कथा अज्ञात, अपरिचित थी। अब तक रहस्य, गूढ़, कूट बनी हुई मराठी प्राचीन-साहित्य की एक गुत्थी सुलझ ही नहीं रही थी, घटनाक्रम की सुसङ्गति ही नहीं लग रही थी; किन्तु गत दो वर्षों पूर्व ही नवीन उपलब्ध प्राप्त परन्तु अभी तक अप्रकाशित, संशोधित मराठी-सामग्री ने आश्चर्यकारक रीति से गूढ़ रहस्य को प्रकट कर दिया है। महाराष्ट्र के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक-जीवन में, अनेकों के श्रद्धा–समादर के पात्र एक महान् व्यक्ति

---

1. अब पुरासामग्री प्रचुर प्राप्त होती है। अतः उज्जैन के प्रसिद्ध विक्रमादित्य सम्बन्धी सन्देह नहीं रहा। (सम्पादक)
2. प्रायः 1990 के लगभग। यह लेख उन्हीं दिनों लिखा गया था। (सम्पादक)

मालवा के उज्जैन की महाराणी हो, यह अकल्पनीय, किन्तु अब यह प्रामाणिक, विश्वसनीय, सिद्ध ऐसा सत्य है।

राजा विक्रमादित्य के बड़े भ्राता भर्तृहरि और उनकी पत्नी पिङ्गला की कथा सर्वज्ञात है। उस पतिव्रता का सती हो जाना भर्तृहरि का विरागी होकर नाथपन्थी योगी, सिद्ध बाना स्वीकारने का निमित्त कारण हुआ। भर्तृहरि ने वैराग्य-प्राप्ति के साथ राज्य विक्रम को सौंपा। नाथयोगी सिद्धों में उनका स्थान पर्याप्त उच्च था। उनके शतकत्रय, वाक्यपदीय आदि ग्रन्थ, गोपीचन्द–मैनावती से गुरु –शिष्य सम्बन्ध, उनके सम्बन्ध में जुगी ''लगोंका किंगरी'' पर गाते फिरना आदि बातें सर्वज्ञात हैं।

महामना भर्तृहरि की महाराष्ट्रीय सांस्कृतिक, आध्यात्मिक-जीवनधारा से निकटता थी। वैसे नाथ- पन्थी ''घुमक्कड़'' भर्तृहरि की बैठक गुफा उज्जैन में आज भी विद्यमान है, फिर भी उनका निवास श्रीशैल पर्वत पर पर्याप्त समय था। श्रीशैलम् पर्वत योगी, सिद्धों का निवास-स्थान रहा है। वहाँ का कदलीवन-आश्रम योग्य स्थान होने से अनेकों सिद्धों के आश्रम वहाँ थे। स्वयं रस–सिद्ध नागार्जुन ने सिद्धि प्राप्ति हेतु वहाँ ''भट्टी'' की तो स्थापना की ही थी, सारे पर्वत को ही सुवर्ण में परिवर्तित करने की योजना भी चल पड़ी थी। महानुभावपन्थ-संस्थापक श्रीचक्रधर की भेंट वहाँ एक योगिनी से हुई; उसका आश्रम वहाँ पर ही था। वह चक्रधर को बड़े आदर–सम्मान के साथ अपने आश्रम में ले गई और बड़ा स्वागत किया। इस योगिनी का वर्णन महानुभावपन्थीय-ग्रन्थ में निम्नानुसार किया हुआ है –

''पाहालीं गेली लोंबः चुंबली वलीं नखें : भुई काढती जटै :'' (उसके शरीर पर लव बढ़ी हुई थी, नख इंडरी जैसे गोल हो गये थे और जटा भार जमीन बुहार रही थी)

''तिचे मुक्ताबाई ऐसे नांव''(उसका नाम था मुक्ताबाई)। योगसाधना के कारण उसे समदृष्टि प्राप्त थी ''कर्दलीच्या बनी। मुक्ताई योगिनी। देवो धाय धणी। पूजियेले'' उसने चक्रधर का पूजा द्वारा स्वागत किया ''वन पुष्पांची पुजा केलीः कंद मूल फलाची आरोगया दिधलीः (फल–पुष्प समर्पित किए)। उसने उस पर्वत पर ''बारा वरिषे क्रीडा केलीः इसलिए ''तयासि मृणितलेः इतुलेही तप केलेः तयाचे फल आजि आले'' (किए घोर तपस्या का आज फल मिला)।

महाराष्ट्र एवं महाराष्ट्रीय को आज तक ज्ञात थी वह ज्ञानेश्वरादि बन्धुओं की प्रिय भगिनी मुक्ताबाई किन्तु वे सारे ही अल्पवयस्क, अतः वह अपने भाईओं को छोड़कर कभी अन्यत्र–अलग रही ऐसा ज्ञात नहीं। फिर उसके श्रीपर्वत पर, बारा साल आश्रम में नख, केश, लव आदि द्वारा तपःपूत होने की लक्षणीय स्थिति प्राप्त होने तक रहने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः यह मुक्ताई योगिनी कौन? निश्चित ही वह ज्ञानेश्वर-भगिनी, निवृत्तिनाथशिष्या नहीं। अभी-अभी ज्ञात उपलब्ध साहित्य के आधार पर वह महाराष्ट्र की महान्, प्रसिद्ध योगिनी मुक्ताई श्रीगोरक्षनाथ की शिष्या, वैराग्यसम्पन्न योगीराज भर्तृहरि की भ्रातृजाया (भौजाई), योगीराज चाँगदेव वटेश्वर की गुरु और भी उज्जैन के राजा विक्रम की रानी, पत्नी सत्यवन्ती, इसका स्पष्टीकरण आगे होगा।

गोरक्षनाथ द्वारा मुक्ताई को गुरूपदेश एवं दीक्षा दिए जाने की बात तो चाँगदेव, शिवकल्याण, रत्नाकर, शिवदिनकेसरि, भोलानाथ आदि एकाधिक मराठी-ग्रन्थकार लिख चुके हैं, किन्तु

''गोरक्ष–मुक्ताई'' के गुरु–शिष्यत्व की कालानुक्रम-सङ्गति कैसे बैठायी जाए, इस गूढ़ रहस्य का निराकरण कैसे किया जाए ? यह समझ नहीं आ रहा था। एक ओर ''ताटी उघडा ज्ञानेश्वरा (ज्ञानेश्वर, दरवाजा खोलो) जैसे प्रेम भरी, करुणरसपूर्ण रचना करने वाली, भोली भाली, अल्पवयस्का, मुक्ताबाई अपने बन्धुओं के साथ तत्कालीन समाज–यन्त्रणाओं को साहसपूर्वक सामना कर रही चक्षु के सामने आती है तो दूसरी ओर तत्कालीन साहित्य में मुक्ताई का वर्णन साक्षात् विद्युल्लता, चाँगदेव जैसे 1400 वर्ष काल-वञ्चना करने की क्षमता रखने वाले का 'देहभाव' नष्ट नहीं हुआ, ऐसा उसे स्पष्ट कहने वाली। पुरातन गोरोबा काका द्वारा नामदेव जैसे कच्चे घट की परीक्षा कराने वाली, प्रकाश के गीत गाने वाली, चाँगदेव को भी पुत्र, सुत, शिष्य कहकर सम्बोधित करने वाली इन शब्दों से किया गया है। इस सबका योग्य सम्बन्ध आज तक प्रस्थापित नहीं हो पा रहा था। चाँगदेव वटेश्वर लिखते हैं- ''गोरक्षे अनुग्रह मुक्ताईस केला। पंथ सांगितला नाथांचा हा॥ मुक्ताई उपदेशी चांगा वटेश्वर। नाथपंथ साचार आमुचा असे॥'' वे ही अपने ग्रन्थ ''तत्त्वसार'' में लिखते हैं।

''श्रीगोरक्षनाथु'' देह सिद्धि सिद्धात। परमतत्त्व विख्यात। आचार्ये जाण॥ श्रीमुक्तादेवी योगिनी। जे समस्त सिद्ध शिरोमणी। तिये प्रसादें चक्रपाणि। ज्ञानसिद्ध॥ इन दो ''मुक्ताई'' का पूर्वजन्म के आधार पर सम्बन्ध प्रस्थापित करने का प्रयास शिवदिननाथ केसरि ने निम्न प्रकार से किया है;

''पूर्व जन्मी मुक्ताईस। गोरक्षकृपे चा सौरसा लाभला''

सारांश, महाराष्ट्र के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक इतिहास में सुसूत्रता, सुसङ्गति नहीं आ रही थी। कहीं तो भी यह विशृङ्खलता खटकती थी परन्तु यह रहस्यमयता का आवरण, गूढ़, कूट, गुत्थी अकस्मात् सुलझ गयी । सांस्कृतिक, आध्यात्मिक-जीवन उज्ज्वलित हो उठा, महाराष्ट का साहित्याध्यात्मिक क्षितिज प्रज्ज्वलित हो उठा।

यह महान् कार्य किया 'षट्स्थल'' ग्रन्थ ने, विसोबा खेचर इसके लेखक। अभी दो वर्ष पूर्व यह अपूर्व ग्रन्थ उपलब्ध हुआ पूना के विद्वान् संशोधक डॉ.रा.चिं. ढेरे को। गोरक्ष–मुक्ताई–चाँगदेव–कृष्णनाथ-विसोबा-नामदेव इस प्रकार परम्परा-निर्देश इसमें है। पूर्व की ज्ञात परम्परा से अलग। इससे मुक्ताई योगिनी और मुक्ताबाई के परस्पर सम्बन्ध की गुत्थी सुलझ गयी। उज्जैन के सन्दर्भ में इतना सारा विस्तार आवश्यक था। कारण, महाराष्ट्र की मूर्धन्य महान् योगिनी मुक्ताई, विसोबा के सविस्तर परम्परा दिग्दर्शन–वर्णन से उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की पत्नी सत्यवन्ती थी, यह स्पष्टरूप से प्रमाणित होता है। वह लिखते हैं, ''ते मुक्ताअि सिव योगिणी। पतिव्रता शिरोमणि। राया विक्रमादित्याची राणी। सत्यवन्ती।

सत्यवन्ती के मुक्ताई योगिनी होने की कथा ''षट्स्थल'' में सविस्तर दी गई है। सङ्क्षेप में वह निम्नानुसार ;–

राजा विक्रमादित्य की पत्नी को, उसके देवर योगी–विरागी भर्तृहरि से परमार्थ-प्रेरणा मिली थी। विरक्त भर्तृहरि को नित्य भिक्षा देने के पश्चात् ही स्वयम् अन्न ग्रहण करने का व्रत उसने ले रखा, जिसे उसने सतत निभाया। तप से सत्यवन्ती को कृश होती देख उसकी परिचारिकाओं ने एक दिन उसे

अभ्यङ्ग-स्नान करवाया। स्नान में व्यस्त सत्यवन्ती भर्तृहरि का ''अलख'' सुनकर भिक्षा देने नग्न ही चल पड़ी। उसे इस प्रकार नग्न आते देखकर भर्तृहरि वापस लौटे। भिक्षा लिए बिना ही विमुख जाते भर्तृहरि को देख, व्रतभङ्ग होने के भय से वह उसी प्रकार उसके पीछे-पीछे चल पड़ी। भर्तृहरि आगे और वह पीछे। इस प्रकार नगर-सीमा तक वे आए। उतने में सामने से गोरखनाथ आए और भर्तृहरि को उन्होंने पूछा,''रे मूर्ख, भिक्षा क्यों नहीं ले रहे हो''। उसने कहा, माता नग्न है, अन्नग्रहण कैसे किया जाए ? गोरख बोले,'' तू अज्ञानी, तुझे ज्ञान नहीं, इतना बड़ा विरक्त तू, परन्तु देहभाव अभी नहीं गया। जाव, भिक्षा लेव। भर्तृहरि को उपरति हुई, ज्ञान प्राप्त हुआ और मूल निर्लिप्तभाव से उसने भिक्षा ग्रहण की। इधर सत्यवन्ती की व्रत के प्रति आत्यन्तिक निष्ठा देखकर गोरख उस पर प्रसन्न हुए और उसके मस्तक पर अनुग्रह का हाथ रखा। हस्त-स्पर्श होते ही उसे ''ज्ञान'' प्राप्त हुआ और वह तत्काल तल्लीन हुई। सत्यवन्ती की व्रतैकनिष्ठा, श्रद्धा, भक्ति, तपश्चर्या देखकर गोरख ने उसे सचेतन किया और वापस जाने के लिए कहा, किन्तु वह बोली

तव येरी म्हणे प्रेत आणीले स्मशाना।
ते केवि जावे।। छना लोहो परिसासी भेटी।
ते कनक होडनि। कां अग्नि लागलिया काष्टा न ये पूर्व दशे।।69।।

(श्मशान में लाया प्रेत वापिस कैसे जाए ? लोहा-पारस से भेंट होकर सोना होता है, फिर वह वापिस लोहा कैसे हो ? काष्ठ को अग्नि लगने पर वह पुनः काष्ठ रूप कैसे हो सकता है ?

आप जैसे योगीराज का दर्शन लाभ भाग्य से प्राप्त हुआ। अब आपके चरण छोड़ जाना कैसे सम्भव है ? सत्यवन्ती की इस प्रकार की दृढ़भावना, निष्ठा और मानस देखकर गोरख ने मेखला परिधान की और ''मुक्त'' कहकर उसका ''मुक्ताई'' यह नामकरण किया। भर्तृहरि ने भी अनुग्रह के लिए बार–बार याचना-प्रार्थना की। नाना प्रकार से नमस्कार किए, दण्डवत् कर चरण पकड़े, किन्तु बारा वर्ष बाद मिलूँगा, अभी तेरे मन में निवृत्ति नहीं आई है; कहकर वे चले गए। ''हे उजनिये नगरिस वितले'' (यह घटना उज्जैन में घटित हुई) ऐसा विसोबा स्पष्ट लिखते हैं, यही मुक्ताई आगे चलकर चाँगदेव वटेश्वर की गुरु हुई।

विसोबा की दी यह जानकारी मालवा तथा महाराष्ट्र, दोनों के लिए अपूर्व, अज्ञात अतः नयी है, परम योगिनी मुक्ताई और ज्ञानेश्वर-भगिनी मुक्ताबाई के अलग-अलग होने का ज्ञान महाराष्ट्र को हुआ तो। मुक्ताई योगिनी पूर्वाश्रम की उज्जैन के राजा विक्रम की पत्नी सत्यवन्ती थी। यह अकल्पनीय तथ्य–सत्य मालवा की जनता को ज्ञात हुआ। वैसे मालवा के लोकसाहित्य में यह कथा अनुस्यूत थी अवश्य, परन्तु वह अनुग्रह–दीक्षा तक की ही है। सत्यवन्ती ने आगे क्या किया ? इसका कहीं भी दिग्दर्शन नहीं है। श्रीपर्वत के उसके आश्रम-सम्बन्धी तथा घोर तपश्चर्या आदि के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं था। ''षट्स्थल'' से ही सर्वप्रथम यह जानकारी स्पष्ट शब्दों में ज्ञात हो रही है।

प्राचीनकाल से उज्जैन–मालवा के महाराष्ट्र से राजकीय, आर्थिक, व्यावसायिक सम्बन्ध थे ही; किन्तु सांस्कृतिक-दृष्टि से इतना निकटवास सम्बन्ध प्रथम ही ज्ञात हो रहा है। महाराष्ट्र के महानुभाव,

नाथ, वटेश्वर आदि पन्थ–सम्प्रदायों के महान् श्रेष्ठियों के समकक्ष ही नहीं, वरन् एक सीढ़ी ऊपर का मान-सम्मान, आदर-स्थान प्राप्त मुक्ताई योगिनी जैसी भारतीय नारी आध्यात्मिक जगत् की महान् व्यक्ति अपनी होने का सौभाग्य उज्जैन-मालवा को प्राप्त हुआ। गोरक्षनाथ द्वारा प्रत्यक्ष उपदिष्ट होने का सम्मान भी अपूर्व है, जो महाराष्ट्र के किसी श्रेष्ठ महात्मा को नहीं मिला। यह सारा बड़ा गौरवास्पद है।

उज्जैन में गुरुबोध, दीक्षाग्रहण के पश्चात्, वह श्रीशैल पर्वत पर आश्रम में रही। बारा वर्ष घोर तप किया, और चाँगदेव वटेश्वर को उपदिष्ट कर वह विदर्भ–अमरावती जिले के, मोर्शी तालुका में मोर्शी से 5-6 कोस पर स्थित सालबर्डी के पर्वत पर समाधि में लीन हुई। यह समाधि-मन्दिर आज भी विद्यमान है।

संस्कृत-सुभाषित एवं साहित्यशास्त्र में विक्रमादित्य

डॉ. सदानन्द त्रिपाठी

अवन्तिकापुरीशाय निःशेषक्लेशनाशिने।
ज्योतिर्लिङ्गस्वरूपाय महाकालाय ते नमः ॥ ('दयालू' पाह्वस्य सदानन्दत्रिपाठिनः)

भगवान् मनु द्वारा प्रोक्त मध्यदेश[1] (वर्त्तमान प्रायः मध्यप्रदेश) में विश्वकालगणना की दृष्टि से मानक याम्योत्तर-विषुवत्-रेखा तथा शून्य-अक्षांश–देशान्तर रेखा पर अवस्थित इस उज्जयिनी (तीर्थपुरी) को सौभाग्य प्राप्त हुआ कि ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में नृपतिवरवीर सम्राट् महाराजा **विक्रमादित्य** का जन्म हुआ। अवन्ती जनपद में जब चारों ओर से विदेशी आक्रान्ताओं, शकों का आतङ्क व्याप्त हो रहा था, सम्पूर्ण मालव (मालवा) प्रदेश की शान्तिप्रिय प्रजा त्राहि–त्राहि कर रही थी। उस समय आपश्री महाराजा विक्रमादित्य ने उन सभी शक राजाओं का अपने आदित्य (सूर्य) समान विक्रम (पराक्रम) से मूलोच्छेद किया। शकों के शत्रु होने से आपका एक विरुद **'शकारि'** हो गया। साहस में अप्रतिम होने से आप **'साहसाङ्क'** विरुद से सम्बोधित किये जाने लगे और शकों को सर्वथा पराजित करके जब आपने उज्जयिनी के गौरवास्पद 'महाराज' पद पर पट्टाभिषिक्त होकर नूतन विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तन किया तब से आप **'संवत्प्रवर्त्तक' विक्रमादित्य** नाम से प्रख्यात हुए। ईसा के 57 वर्ष पूर्व से सदियों तक इसका नाम कृत तथा मालवसंवत् ही प्रचलन में था।

संवत्प्रवर्त्तक महाराजा विक्रमादित्य महान् प्रतापी सम्राट् थे । आपका दुर्धर्ष शौर्य, प्रकाण्डपाण्डित्य, विद्यानुराग, न्यायपरायणता तथा औदार्य विश्वविश्रुत है । आपके शासनकाल में विद्या, कला और साहित्य को चिरस्मरणीय-रूप से पल्लवित, पुष्पित होकर प्रतिफलित होने का गौरवपूर्ण सुअवसर प्राप्त हुआ जो वर्त्तमान में भी अक्षुण्ण–रूप से भारतीय–समाज में परिव्याप्त है। वैदिकवाङ्मय में राजा के परम सहायकों में से जिस 'रत्नी' की नियुक्ति–व्यवस्था है, विक्रमादित्य के शासनकाल तक आते–आते वह सम्मान्य पद 'रत्न' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। विद्या–कला तथा साहित्यप्रियता के कारण ही आपने अपनी राज्यसभा में अपने–अपने क्षेत्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् महानुभावों को नवरत्नों के रूप में प्रतिष्ठापित किया। इनका नामोल्लेख 'ज्योतिर्विदाभरण' कार ने इस

1. मनुस्मृतिः 2/21

प्रकार किया है–

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव **विक्रमस्य**।।[2]

प्राचीन संस्कृति–परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य ऐतिहासिक व्यक्तित्वसम्पन्न महापुरुष हैं जिनकी विमलकीर्त्ति एवं यश सम्पूर्ण भूमण्डल में प्रथित है। आपके विराट् व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर ही परवर्त्ती अनेकों राजाओं ने उज्जयिनीनरेश संवत्प्रवर्त्तक वीर **विक्रमादित्य** के नाम से स्वयं को प्रसिद्ध करने के लिये **'विक्रमादित्य'** नामक विरुद (उपाधि) धारण करना प्रारम्भ कर दिया, अपने नाम के साथ विक्रमादित्य शब्द भी संयुक्त कर लिया। इसीका परिणाम है कि अकेले चालुक्यवंश में 12 (द्वादश) विक्रमादित्य हो गये।[3] प्रस्तुत शोध–निबन्ध में हम उज्जयिनीनरेश **आदिविक्रमादित्य** के अलौकिक, महनीय व्यक्तित्व एवं समग्र कर्त्तृत्व से प्रभावित होकर जिन देववाणी संस्कृतभाषा के समाराधक–सारस्वत कविवरेण्यों ने स्व–स्व सुभाषितग्रन्थों, काव्यों–महाकाव्यों, चम्पू, नाटकों आदि के साथ ही साहित्यशास्त्रीय शिखर-ग्रन्थों में पर्याप्त वर्णन प्रस्तुत किया है, उसे निदर्शन–स्वरूप सुधी विद्वज्जनों के सम्मुख यथामति भाषानुवाद सहित उपस्थापित करने का यथाशक्य प्रयास करते हैं जिससे आदिविक्रमादित्य के सम्बन्ध में नावीन्य–बोध उपलब्ध हो सके। इस सम्बन्ध में हमें द्विविध सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। प्रथम के अन्तर्गत महाराजा विक्रमादित्य का यशोगान–महिमावर्णन उपलब्ध होता है किन्तु द्वितीय के अन्तर्गत स्वयं विक्रमादित्य द्वारा नामतः विरचित सुभाषित–पद्य प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं एक पद्य तो इनके 'साहसाङ्क' विरुद नाम से प्रणीत उपलब्ध हुआ है।

तत्कृतं यन्न केनापि तद्दत्तं यन्न केनचित्।

तत्साधितमसाध्यं य**द्विक्रमार्केण** भूभुजा।। (शाङ्र्गधरपद्धतिः)

पृथ्वी को भोगने वाले **विक्रमादित्य** ने वह किया जो अन्य किसी के द्वारा नहीं किया गया। उन्होंने वह दिया जो अन्य किसी के द्वारा नहीं दिया गया तथा उन्होंने उन कार्यों में भी सफलता प्राप्त की जो दूसरों के लिये असाध्य थे।

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः।

सरसीव कीर्त्तिशेषं गतवति भुवि **विक्रमादित्ये**।।

(निमाड़नरेश सुबन्धु (सं. 167) कृत वासवदत्ता), (तदेव 179)

महाराजा विक्रमादित्य के कीर्त्तिशेष हो जाने (पञ्चत्व को प्राप्त हो जाने) पर पृथ्वीमण्डल में वह रसवत्ता (रसमयता) समाप्त हो गयी है। श्लिष्टार्थ में, सारसवत्ता (नीरक्षीरविवेकी) हंसों की उपस्थिति नहीं रह गयी है। नवरत्न (कालिदासादि) भी नहीं सुशोभित हो रहे हैं। सम्प्रति छोटे तालाब की तरह

---

2. ज्योतिर्विदाभरणम् 22/10

3. हमारा ज्योतिष और धर्मशास्त्र (पृ.32)- आचार्य हरिहरपाण्डेय, प्रकाशक उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

केवल बगुला भी विचरण करता सा नहीं दिख रहा है।

हस्ती वन्यः स्फटिकघटिते भित्तिभागे स्वबिम्बं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा प्रतिगज इति त्वद्द्विषां मन्दिरेषु।
दन्ताघाताद्दलितदशनस्तं पुनर्वीक्ष्य सद्यो
मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशङ्कया **विक्रमार्क** : ॥ (तदेव, 180)
कीर्तिस्ते दयिता तदीय जठरे लोकत्रयं वर्त्तते
तस्मात्त्वं जगतः पिता पितृधनं येनार्थिनां त्वद्धनम्।
वीर श्रीवर**विक्रमार्क** भवतस्त्यागं न मन्यामहे
कस्त्यागः स्वकुटुम्बपोषणविधावर्थव्ययं कुर्वतः ॥[4] (तदेव, 181)

श्रीश्रीधरदासप्रणीत 'सदुक्तिकर्णामृतम्' के पञ्चम उच्चावचप्रवाह के 15वें चक्रवाकी-वर्णन में 2073 क्रमाङ्क के तृतीय अनुक्रम में एक शार्दूलविक्रीडित छन्दोबद्ध पद्य **साहसाङ्कविक्रमादित्य** द्वारा विरचित प्राप्त होता है जिसमें चकवी (मादा पक्षी) की निशागम के समय की विरहदशा वर्णित है।

पक्षावुत्क्षिपति क्षितौ निपतति क्रोडं नखैरुल्लिख -
त्युद्वाष्पेण च चक्षुषा सहचरं ध्यात्वा मुहुर्वीक्षते।
चक्राह्वा दिवसावसानसमये तत्तत्करोत्याकुला
येनालोहितमण्डलोऽपि कृपया यात्येष नास्तं रविः ॥[5] **(साहसाङ्कस्य)**

दिवस की समाप्ति (निशामुख) के समय चक्रवाकी (चकवी) अपने दोनों पंखों को फड़फड़ाती है। बारम्बार पृथिवी में गिरती है, अपने पंजे के नखों से वक्षःस्थल को विदीर्ण करती हुई और नेत्रों में भरे हुए उष्ण अश्रुजल के साथ अपने सहचर प्रियतम चक्रवाक का ध्यान कर–करके उसीके मुखमण्डल की ओर देखती है। वह परमाकुला वह–वह कर्म करती है जिससे अस्ताचल की ओर प्रयाणोन्मुख रक्ताभ भुवनभास्कर कृपापूर्वक अस्त ही न हो।

ध्यातव्य है कि **साहसाङ्क विक्रमादित्य** के नाम से प्रख्यात यह पद्य वल्लभदेवविरचित सुभाषितावलि के क्रमाङ्क 1921 पर भी वर्णित है।[6]

लोकसङ्ग्रह की दृष्टि से महाराजविक्रमादित्य एक आसमुद्रक्षितीश होने के कारण बाह्यरूप से तो संसारासक्त, एषणात्रयग्रस्त से प्रतीत होते हैं किन्तु आभ्यन्तररूप से अध्यात्मनिष्ठ, कविहृदय, सहृदय होने के कारण संसार की क्षणभङ्गुरता, नश्वरता–असारता, अनित्यता का सम्यग् ज्ञान होने के कारण वे इसके प्रति सर्वथा विरक्त थे, अतएव उन्होंने अपनी एक पद्यरचना में जगत् की अनित्यता का वर्णन किया है;–

4. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, तृतीयं राजप्रकरणम्, 178, 179, 180, 181
5. सदुक्तिकर्णामृतम्, पञ्चम उच्चावचप्रवाहः चक्रवाकीवर्णनम्, 2073 पद्य क्रमाङ्क
6. सुभाषितावलिः (वल्लभदेवविरचिता, पद्य क्रमाङ्क 1921

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
नानाविधोपकरणाः करिणस्तुरङ्गाः
सम्मीलिते हि नयने न तदस्ति किञ्चित्॥[7]

इस पद्य के उत्तरार्द्ध की दो पङ्क्तियों में किञ्चित् पाठान्तर भी निम्नानुसार प्राप्त होता है ;–

गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः
सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति॥[8]

अत्यन्त मनोमोहिनी स्त्रियाँ हैं, मित्र भी अनूकूल हैं, बन्धु–बान्धवजन भी अतिसुयोग्य हैं, सेवक भी प्रेममयी वाणी में बोलने वाले हैं, नाना प्रकार के राजोचित उपकरण उपस्थित हैं, हाथी हैं, घोड़े हैं किन्तु जीवन के अन्तिम क्षणों में नेत्रद्वय बन्द हो जाने पर कुछ भी नहीं हैं।

पाठान्तर के उत्तरार्द्ध की दोनों पङ्क्तियों का भावार्थ है– कितने ही हाथी चिग्घाड़ रहे हैं और तेज दौड़ने वाले घोड़े हिनहिना रहे हैं किन्तु आँख मूँदते ही कोई भी अपना नहीं रहता।

महाराजाधिराज विक्रमादित्य सत्य–सनातन–वैदिकधर्म के प्रबल अनुयायी थे, पञ्चदेवोपासना–परायण होते हुए अन्तर्हृदय से ज्योतिर्लिङ्ग भगवान् श्रीमहाकालेश्वर के अनन्य समाराधक थे, अतएव उनकी गणना शैव–भक्तों में की जाती है। भगवान् के प्रति उनके मन में पूर्ण आस्था, श्रद्धा और विश्वास का दिव्यभाव था। इसका साक्षात्कार हमें उनके निम्नलिखित स्वरचित पद्य में होता है जिसमें वे रोगग्रस्तता में औषधि में, अन्धकार के समय प्रज्वलित दीप में, मतवैषम्य होने पर सहमति में, भय उपस्थित होने पर रक्षा में, सङ्कटकाल में सहयोगार्थ बन्धु–बान्धवों में और इस अगाध कष्टमय संसारसागर से पार उतारने में समर्थ नौका ही संरक्षक होती है। वस्तुतः भगवत्स्वरूप उपर्युक्त वस्तुएँ ही दुःख के समय सहायक होती हैं ;–

रुजासु नाथः परमं हि भेषजं तमः प्रदीपो विषमेषु सङ्क्रमः।
भयेषु रक्षा व्यसनेषु बान्धवो भवत्यगाधे व्यसनाम्भसि प्लवः॥[9]

(विक्रमादित्यस्य)

संवत्प्रवर्त्तक विक्रमादित्य शस्त्र और शास्त्र उभयविध विद्याओं में पारङ्गत थे। सनातनधर्म के समग्र शास्त्रीय अनुशासनों का परिपालन करते हुए शस्त्रविद्या के बल पर आपने निखिल भूमण्डल पर चिरस्मरणीय लोकाराधक, 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्' की अवधारणा पर अवलम्बित न्यायसम्मत

7. तदेव, अनित्यतापद्धतिः, पद्य क्र. 3318
8. सूक्तिसुधाकरः (पृ. 236), गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण
9. सुभाषितावलिः, भगवत्स्वरूपवर्णनपद्धतिः, पद्य क्र. 34, 94

साम्राज्य का आधिपत्य किया। इसी प्रकार आपकी शास्त्रविद्या के प्रति निष्ठा प्रणम्य है। विद्वत्–समाज की मान्यता है कि आपने **'साहसाङ्क'** नाम से देववाणी संस्कृतभाषा में **'गन्धमादन'**[10] काव्य तथा **'संसारावर्त्त'**[11] कोशग्रन्थ भी लिखा है। आपकी काव्य–साहित्यशास्त्रीय-दृष्टि परवर्त्ती आलङ्कारिक आचार्यों के लिये मार्ग प्रशस्त करती है । निदर्शन के रूप में, आपके द्वारा विरचित तथा वल्लभदेवमहाभाग द्वारा सुभाषितावलि में सङ्कलित निम्नाङ्कित पद्य वाग्देवतावतार मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में सादृश्यमूलक उत्प्रेक्षालङ्कार तथा अर्थालङ्कारसंसृष्टि के उदाहरण में प्रयुक्त किया है; –

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता॥[12] **(विक्रमादित्यस्य)**

(वर्षाकाल की रात्रि के समय) अन्धकार अङ्गों का लेपन-सा कर रहा है, आकाश काजल की वृष्टि सी कर रहा है और दुष्ट–पुरुष की सेवा के समान दृष्टि विफल सी हो गयी है । यह पद्य 'सुभाषितावली' में भी **विक्रमादित्य** के नाम से प्राप्त होता है।[13]

कविकुलगुरु, महाकविकालिदासप्रणीत दृश्यकाव्य ''अभिज्ञानशाकुन्तलम्'' की कतिपय प्राचीन प्रतियों में नान्दी के अन्त में उल्लिखित है कि इस नाटक का अभिनय **विक्रमादित्य** की अभिरूपभूयिष्ठा परिषद् में हुआ था।

सूत्रधारः – आर्ये ! इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरो**र्विक्रमादित्य**स्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्याञ्च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः । तत् प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः। नान्द्यन्ते।[14]

इतना ही नहीं, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में हिन्दीविभागाध्यक्ष स्व. पं. केशवप्रसाद मिश्र के पास सुरक्षित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति (प्रतिलेखनकाल–अगहन सुदी 5, संवत् 1699 विक्रमी) में **साहसाङ्क विक्रमादित्य** का गण से सम्बन्ध व्यक्त किया गया है।

यथा–

(अ) आर्ये ! रसभावविशेषदीक्षागुरोः **विक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्या**भिरूपभूयिष्ठेयं परिषत् । अस्याञ्च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः, (नान्द्यन्ते)।

(आ) तव भवतु विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु

---

10. शूरः शास्त्रविधेर्ज्ञाता साहसाङ्कः स भूपतिः। सेव्यं सकललोकस्य विदधे गन्धमादनम्॥ (पारम्परिकः श्लोकः)
11. संस्कृतशास्त्रों का इतिहास, पृ. 328, 329, 349, 369, आचार्य बलदेव उपाध्याय
12. काव्यप्रकाशः दशमोल्लास; उत्प्रेक्षाऽर्थालङ्कारसंसृष्टेरूदाहरणयोः
13. सुभाषितावलिः, अस्तमयः प्रसङ्गे, पद्य क्र. 1890
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, सन् 1914 ईस्वी।

त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथा :।

गणशतपरिवर्त्तैरेवमन्योन्यकृत्यै –

र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥[15] (भरतवाक्यम्)

उपर्युक्त अवतरण से सुस्पष्ट है कि संवत्प्रवर्त्तक **विक्रमादित्य** का नाम यहाँ व्यक्तिवाचक है और उनकी उपाधि (विरुद) साहसाङ्क नाम से निर्दिष्ट है।

आचार्य राजशेखर (दशम शताब्दी ई.) उज्जयिनी नगरी में **साहसाङ्क** नामक (विरुदधारी) राजा की कीर्त्ति को सुनकर कहते हैं कि उनके राज्य में अन्तःपुर से लेकर सर्वत्र समान रूप से संस्कृतभाषा का दैनन्दिन-व्यवहार में प्रयोग किया जाता है;–

श्रूयते चोज्जयिन्यां **साहसाङ्को** नाम राजा। तेन च संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण।[16]

इसीमें अन्यत्र भी साहसाङ्क का नामोल्लेख वासुदेव– सातवाहन तथा शूद्रक आदि सभापतियों का दान तथा सम्मान करने में किया गया है –

वासुदेव–सातवाहन–शूद्रक–**साहसाङ्कादीन्** सकलान् सभापतीन् दानमानाभ्यामनुकुर्यात्।[17]

धारानरेश भोजराज (एकादशशती) विश्रुत वैयाकरण तथा साहित्यशास्त्रीय मर्मज्ञ आचार्य हैं। आपने अपने आलङ्कारिक ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्' में इस तथ्य का प्रमुखता से उल्लेख किया है कि **साहसाङ्क** (**विक्रमादित्य** ईसापूर्व प्रथम शताब्दी) के समय (शासनकाल) में सभी लोग लोकव्यवहार में संस्कृतभाषा में ही परस्पर वार्त्तालाप करते थे ;–

'काले **श्रीसाहसाङ्कस्य** के न संस्कृतवादिनः।[18]

राजा भोज ने अन्य बृहत् काव्यशास्त्रीय लाक्षणिकग्रन्थ 'शृङ्गारप्रकाश' में **विक्रमादित्य** के व्याकरणज्ञानजन्य शाब्दबोध और काव्यरचनाचातुर्य को रेखाङ्कित किया है, जिसमें उसने कुन्तलेश्वर द्वारा प्रयुक्त क्रियापद 'पिबति' को 'पिबतु' यथा युष्मद् सर्वनाम पद 'त्वयि' को अस्मद् पद 'मयि' में परिवर्तित करके श्लोकार्द्ध को अपने पक्ष में करके पढ़ दिया। भोजराज का यह श्लोकार्द्ध प्रयोग भिन्न–भिन्न लाक्षणिक प्रयोजन में काव्यमीमांसा, सरस्वतीकण्ठाभरण तथा साहित्यमीमांसा सहित विविध काव्य–साहित्यशास्त्रीय आलङ्कारिक लाक्षणिक ग्रन्थों में निदर्शनार्थ उद्धृत किया गया है। प्रमाणस्वरूप सप्रसङ्ग पद्य उल्लिखित किया जा रहा है ;-

कालिदासः किं कुन्तलेश्वरः करोतीति **विक्रमादित्येन** पृष्ट उक्तवान् -

---

15. कालिदासग्रन्थावली – सम्पादकः आचार्यः पं. सीताराम चतुर्वेदी, उ.प्र. संस्कृत संस्थानम्, लखनऊ, षष्ठसंस्करणम्, विक्रमाब्दः 2063
16. काव्यमीमांसा–राजशेखरविरचिता, दशमोऽध्यायः
17. तदैव,
18. सरस्वतीकण्ठाभरणम्–(भोजराजविरचितम्), द्वितीयः परिच्छेदः, कारिका 15

असकलहसितत्वात् क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ॥
इदमेवोहयित्वा **विक्रमादित्यः** प्रत्युवाच–
पिबतु मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
मयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ॥[19]

महाराजा **विक्रमादित्य** परम श्रीवैष्णव थे। उन्होंने अपनी काव्यप्रतिभा–शक्ति का विनियोग श्रीहरिगुणगणवर्णन में प्रायशः किया है। त्रिविक्रम भगवान् वामन के श्रीचरणों से भगवती भागीरथी–गङ्गा के निःसरण का नैसर्गिक, मनोरम चित्रण करते हुए आपने लिखा है कि 'जब त्रिविक्रम भगवान् राक्षसराज बलि का राज्य नाश करने के लिये अपना एक–एक चरण एक–एक लोक में रखते जाते हैं, उस समय प्रखर अंशुमाली भास्वर भुवनभास्कर दूर से अँगुली में धारण की हुई मुद्रिका के समान द्योतित हो रहा है। जिन श्रीमन्नारायण के त्रिभुवनमापन के समय वेग से बढ़ते हुए चरणों के नखाग्रमण्डल की दिव्य कान्ति से निःसृत होकर सकलभुवनपावन गङ्गाजल आविर्भूत हुआ है, वे भगवच्चरणारविन्द तुम्हारी सदा सर्वत्र रक्षा करें ;–

चञ्चत्पादनखाग्रमण्डलरुचिप्रस्यन्दिगङ्गाजलो
विस्फूर्जद्बलिराज्यनाशपिशुनोत्पाताम्बुवाहद्युतिः।
पातु त्वां चरणो हरेः क्रमविधौ यस्याधिकं द्योतते
दूरादङ्गुलिमुद्रिकामणिरिव स्फारांशुजालो रविः ॥[20]

(विक्रमादित्यस्य)

इस श्लोक से प्रकट होता है कि सूर्य अँगूठी के समान गोल वलयाकार है जिसका मध्य भाग खाली है। आधुनिक वैज्ञानिक शोध के अनुसार भी सूर्य ठोस नहीं अपितु गैस का गोल पिण्ड है। (सम्पादक)

प्रस्तुत दुर्लभ पद्य लगभग एक सौ वर्ष पूर्व सन् 1912 ई. में रामावतारशर्मा, एम.ए द्वारा सम्पादित तथा एशियाटिक सोसायटी ऑफ बङ्गाल, कलकत्ता से प्रकाशित 'सदुक्तिकर्णामृतम्' (प्रथमो भागः) श्रीश्रीधरदासप्रणीतम् से सोद्देश्य महाराजा विक्रमादित्य पर पर्याप्त प्रकाश डालने के लिये समुद्धृत किया गया है। प्रकृत शोधपत्र में सुभाषित–काव्य एवं संस्कृतसाहित्यशास्त्र के ज्ञाताज्ञात तथा अल्पज्ञात ग्रन्थरत्नों में संवत्प्रवर्त्तक महाराजा **विक्रमादित्य** के सम्बन्ध में विकीर्ण साहित्यिक–सामग्री का एकत्र

19. शृङ्गारप्रकाशः, अष्टमः प्रकाशः, भोजराजविरचितः
20. सदुक्तिकर्णामृतम्–त्रिविक्रमवर्णनम्, 44/3, एशियाटिक सोसायटी बङ्गालसंस्करणम्

सङ्कलन करके उनके ऐतिहासिक–सांस्कृतिक–राजनैतिक तथा उदात्त लोकप्रिय न्यायिक–सामाजिक अवदान को उद्घाटित करने का विनम्र प्रयास किया गया है। वेरण्य सुधीजनों के मार्गदर्शन में इस क्षेत्र में सतत अनुसन्धान से अभिनव पक्ष–तथ्य प्रकटीकरण की अपार सम्भावनाएँ हैं । उनके वैश्विक–सार्वभौम विराट् व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने के लिये स्वतन्त्ररूप से बृहत्काय शोधप्रबन्ध लेखन की अपेक्षा है और निरन्तर रहेगी।

भर्तृहरि का साहित्यावदान

डॉ. सदानन्द त्रिपाठी

अवन्तिकापुरीशाय निःशेषक्लेशनाशिने।
ज्योतिर्लिङ्गस्वरूपाय महाकालाय ते नमः ॥
भर्तृहरिं नमस्कृत्य कविं दार्शनिकं तथा।
शतकत्रयमाधृत्य शोधपत्रं विधीयते ॥ ('दयालू' पाह्ववस्य सदानन्दत्रिपाठिनः)

शाश्वत दार्शनिक, साहित्यिक चेतना का डिण्डिमघोष ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में अवन्तिका की पुण्य धरा में गृहीतजन्मा महावैयाकरण, अप्रतिम रससिद्धकवीश्वर तथा परमशैवदार्शनिक आचार्यवर्य **श्रीभर्तृहरि** महाभाग ने किया। भगवान् वेदव्यासप्रणीत पौराणिकी ब्रह्मविद्या में भारतवर्ष के पुण्यश्लोक राजाओं का प्रामाणिक वंशवर्णन प्राप्त होता है । पुराणशास्त्र की भाषा में इसे वंशानुचरित नाम से सम्बोधित किया जाता है। गाथा तथा नराशंसी और नाराशंसीभेद से प्रभूत ऐतिहासिक साक्ष्यसन्दर्भ प्राप्त होते हैं । प्रकृत सन्दर्भ में हम अपने चरितनायक आचार्य **श्रीभर्तृहरि** के सम्बन्ध में भविष्यपुराणोक्त प्रतिसर्ग-पर्व प्रतिपादित वर्णन से परिचय प्रदान करते हैं। इसके अनुसार–उस समय एक जयन्त नामक प्रख्यात ब्राह्मण रहता था। कठोर तप करने के परिणामस्वरूप उसको इन्द्र के द्वारा एक फल उपलब्ध हुआ, जिसके खाने से कोई भी अमर हो सकता था। फल को प्राप्त करके वह ब्राह्मण अपने घर चला गया। जयन्त ने उसे भर्तृहरि को बेंच दिया जिसका भक्षण करके **भर्तृहरि** योगारूढ़ होकर वन को चले गये । तदनन्तर विक्रमादित्य सौ वर्ष पर्यन्त उस राज्य का निष्कण्टक उपभोग करके मरणोपरान्त स्वर्गलोक को चले गये ;-

तस्मिन्काले द्विजः कश्चिज्जयन्तो नाम विश्रुतः।
तत्फलं तपसा प्राप्तः शक्रतः स्वगृहं ययौ ॥
जयन्तो भर्तृहरये लक्षस्वर्णेन वर्णयन्।
भुक्त्वा **भर्तृहरि**स्तत्र योगारूढो वनं ययौ ॥

विक्रमादित्य एवास्य भुक्त्वा राज्यमकण्टकम्।

शतवर्षं मुदा युक्तो जगाम मरणे दिवम्॥[1]

मेरुतुङ्गाचार्यविरचित 'प्रबन्धचिन्तामणि' के अनुसार **भर्तृहरि** विक्रमादित्य के सौतेले बड़े भाई थे। आपके पिता गन्धर्वसेन ने ईसवी सन् पूर्व 72 में मालवों का लोकसत्तात्मक राज्य अवन्ती जनपद (उज्जैन) में स्थापित करके आपको गणाधिपति बना लिया था। बारह 12 वर्ष पर्यन्त राज्यशासन करके आपने अपने अनुज विक्रमादित्य को राज्यसत्ता सौंपकर वैराग्य स्वीकार कर लिया था। आपकी माता का नाम 'धीमति' (ती) और विक्रमादित्य की माता का नाम 'श्रीमती' था।[2] विरक्तावस्था में **भर्त्तृहरि** काशी नगरी पधारे और यहीं पर नाथसम्प्रदाय के विश्वविश्रुत परमाचार्य गुरु गोरक्षनाथ से संन्यासदीक्षा ली और अपनी उत्कृष्ट तपः साधना के फलस्वरूप महान् सिद्धयोगी हो गये। कोई–कोई आपको यौगिक शक्ति–बल से आज भी अजर–अमर मानते हैं। लोकसंस्कृति–परम्परा में आचार्यश्री योगिराज **भर्त्तृहरि** का यशोगान यत्र–तत्र–सर्वत्र अपार श्रद्धा के साथ किया आता है। असङ्ख्य जनश्रुतियाँ इसका प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

काश्मीर–प्रदेश निवासी महाकवि क्षेमेन्द्र (11वीं शती) आचार्य**भर्तृहरि** को महाराज गन्धर्वसेन द्वारा दासी के गर्भ से उत्पन्न हुआ पुत्र स्वीकार करते हुये लिखते हैं ;–

अथ (यं) कालेन कियता रममाणो महीतले।

दास्यां गन्धर्व्वसेनस्तु पुत्रमेकमजीजनत्॥

तस्य **भर्तृहरी**त्येवं नाम चक्रे महामतिः॥[3]

भर्त्तृहरि का परिचय प्रदान करने वाली एक अन्य परम्परा प्राप्त होती है, जिसके अनुसार ये पूर्वमीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी की क्षत्रिया-पत्नी के पुत्र थे। इसके द्वारा आप विक्रमादित्य के सहोदर तथा अग्रज होते हैं । एतत्सम्बन्धी जो पद्य प्राप्त होता है, उसमें वर्णित तथ्यों की प्रामाणिकता से विद्वत्समाज कथमपि सहमत नहीं है ; –

ब्राह्मण्यामभवद्वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणीः

राजा **भर्त्तृहरि**श्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत्।

वैश्यायां हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शङ्कुः कृती

शूद्रायाममरः षडेव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजाः॥[4]

एक अन्य परम्परानुसार एक मुनि गन्धर्वसेन कन्या पर आसक्त हो गये। एक मटके (भर्तरा) में रेतस्खलन के कारण इनका जन्म हुआ। बालक मिलने पर राजा ने पाला, पोसा। भर्तरा में जन्मने के कारण **भर्तृहरि** कहलाया, जो प्रसिद्ध विद्वान् वैयाकरण हुआ।

---

1. भविष्यपुराणम्–प्रतिसर्गपर्व, अध्याय 23/14-15-16
2. उज्जयिनीदर्शन (स्मारिका), सन् 1957 ई.
3. क्षेमेन्द्रकृत राजावली 4/1-2 (शब्दकल्पदुमः, तृतीयः काण्डः, पृष्ठं 486)
4. विक्रमस्मृतिग्रन्थ (मराठीसंस्करण), पृष्ठ 158

मालवगणाधिपति, अवन्तीनरेश महाराज **भर्तृहरि** शस्त्र तथा शास्त्र, उभयविध विद्याओं में निष्णात हैं। आपका व्यक्तित्व-पक्ष जितना महान् है, उसका परिचायक कर्तृत्वपक्ष उससे भी अधिक विशाल है। आपकी अशेषशेमुषी प्रतिभा से जो ग्रन्थरत्न विनिर्मित हुये हैं ; वे समवेत-रूप से साहित्यिक अवदान के अवबोधक हैं। आचार्य **भर्त्तृहरि** द्वारा शब्दब्रह्मोपासनापरक न केवल व्याकरणदर्शनशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ रचे गये हैं, अपितु पूर्वोत्तरमीमांसा तथा अद्वैतवेदान्तमूलक उच्चकोटि के ग्रन्थों का भाष्य तथा टीकायें भी लिखी गयी हैं। निदर्शन के रूप में विवरण अधोलिखितानुसार है;–

1. वाक्यपदीयम्–तीन काण्डों में
2. वाक्यपदीय स्वोपज्ञटीका–प्रथम–द्वितीयकाण्ड
3. नीतिशतकम् सुभाषितत्रिशती
4. शृङ्गारशतकम्
5. वैराग्यशतकम्
6. ज्ञानशतकम्
7. महाभाष्यदीपिका
8. मीमांसाभाष्य (मीमांसासूत्रवृत्ति)
9. वेदान्तसूत्रवृत्ति
10. शब्दधातुसमीक्षा
11. भागवृत्ति–**भर्त्तृहरि** औपाधिक नाम के साथ अपर नाम विमलमति के साथ प्रसिद्ध;[5] तथा पाणिनिकृत अष्टाध्यायी ग्रन्थ पर अष्टाध्यायीवृत्ति नाम से प्रथित है।[6]
12. विज्ञानशतकम्
13. हरिकारिकासूत्रम्
14. महाभाष्यत्रिपदी व्याख्या

उपरिलिखित 'ज्ञानशतकम्' वाराणसी (उ.प्र.) स्थित सरस्वती भवन पुस्तकालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में क्रम सं. 41114 में योगीश्वरप्रणीत **''भर्त्तृलहरी''** के नाम से सङ्गृहीत है। इस हस्तलिखित पाण्डुलिपि संस्कृतग्रन्थ की पत्र-सङ्ख्या 1-13, आकार ''8.9 X 4.2'' पङ्क्तिसङ्ख्या 9, अक्षरसङ्ख्या 38, देवनागरी लिपि में, कागज आधार पर सम्पूर्णरूप में संरक्षित है।[7]

नाम-साम्य रखता हुआ 'विज्ञानशतकम्' काशी तथा गीताप्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.) की विद्वत्परम्परा में अत्यन्त समादृत है।[8] सम्भव है इसमें विज्ञान अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्विशेष,

---

5. संस्कृतव्याकरण का इतिहास, पृ.339 (युधिष्ठिर मीमांसक)
6. संस्कृतसाहित्य का इतिहास, पृ. 556 (वाचस्पति गैरोला)
7. ए डिशक्रिप्टिव कैटलॉग ऑफ द मैन्युस्क्रिप्ट्स, भाग 11, पृ. 62-63, सरस्वती भवन पुस्तकालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.), सन् 1964 ईस्वी।
8. 'कल्याण–विशेषाङ्क योगाङ्क '' पृ. 786, वर्ष 10, सङ्ख्या 1 पूर्ण सं. 109 अगस्त 1935 ई., गीताप्रेस, पो. गीताप्रेस गोरखपुर (उ.प्र.)

परब्रह्मानन्द की रसरहस्यमयी अनुभूति का सविस्तार वर्णन किया गया हो। पूर्वोक्त ग्रन्थ–सूची में से आचार्य **भर्त्तृहरि** की सुप्रसिद्ध मौलिक रचनायें दो अथवा तीन (1) वाक्यपदीयम् (2) सुभाषितत्रिशती अथवा शतकत्रयम् तथा (3) ज्ञानशतकम् अथवा विज्ञानशतकम् ही हैं। शेष अन्य ग्रन्थों पर आपके द्वारा वैदुष्यपूर्ण की गयी टीकाएँ, वृत्ति अथवा भाष्य आदि हैं।

आचार्य **भर्त्तृहरि** के महनीय साहित्यिक अवदान की पराकाष्ठा का सहज अनुमान इस सन्दर्भ से लगाया जाना चाहिये कि विश्वविश्रुत महाकविकालिदास अपनी सर्वोत्कृष्ट नाट्यकृति 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में अपने पूर्ववर्त्ती महाशाब्दिक आचार्य **भर्तृह**रिविरचित शृङ्गारशतक तथा नीतिशतक के पद्यों की श्रद्धापूर्वक संयोजना करते हैं, जिससे उक्त नाटक प्राण-सञ्जीविनी प्राप्त करके वैश्विक स्तर पर सहृदयजनश्लाघ्य तथा सतत प्रेक्षणीय सिद्ध हो रहा है। यथा–

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधुवनमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव भवद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यत इति॥[9]

(शृङ्गारशतकम् पद्यम् 16, अभिज्ञानशाकुन्तलम् द्वितीयोऽङ्कः पद्यम् 11)

(प्रस्तुत पद्य यत्किञ्चित् पाठान्तर (तृतीय चरण में 'भवद्रूप' के स्थान पर 'च तद्रूपं' और चतुर्थ चरण के अन्त में 'इति' के स्थान में 'विधिः') के साथ शिखरिणी छन्दोबद्ध है। इसमें निसर्गसुन्दरी शकुन्तला के रूप पर मोहित राजा दुष्यन्त की उक्ति है)। यह पद्य निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई द्वारा प्रकाशित काव्यमाला–संस्करण में प्राप्त है। कविकुलगुरु कालिदास धारणावती धी (मेधा) से युक्त, बहुश्रुत, बहुपठित तथा प्रातिभ महाकवि थे। वे जिस ग्रन्थ का एक बार अध्ययन कर लेते थे, वह ग्रन्थ उन्हें कण्ठस्थ हो जाता था। अत एव स्मृतिगुणवशात् उन्होंने अपने ग्रन्थों में अन्य ग्रन्थों के कतिपय भाव ही नहीं, श्लोक ही यथावत् संयोजित कर दिये हैं। उदाहरणार्थ नारदीयपुराण का 'क्रोधं प्रभो संहर संहरेति' यह श्लोक उन्होंने अपने 'कुमारसम्भवम्' महाकाव्य में ज्यों का त्यों उपन्यस्त कर दिया है।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥[10]

वंशस्थ छन्दोबद्ध इस पद्य में महर्षिकण्व का शिष्य शार्ङ्गरव वृक्ष और मेघ के दार्ष्टान्तिक के माध्यम से परोपकारी पुरुष के स्वभाव का वर्णन करता है।

भारतीय काव्य–साहित्यशास्त्रीय आलङ्कारिक आचार्यों को **भर्तृहरि**प्रणीत वाक्यपदीयम् तथा

---

9. शृङ्गारशतकम् 16 पद्यम्; अभिज्ञानशाकुन्तलम् द्वितीयोऽङ्कः, 11 पद्यम्
10. नीतिशतकम् 71 पद्यम्; अभिज्ञानशाकुन्तलम् पञ्चमोऽङ्कः, 13 पद्यम्

सुभाषितत्रिशती (शतकत्रयम्) दायभाग के रूप में परम्परा–प्राप्त हैं। 'लक्ष्यानुसारीणि लक्षणानि भवन्ति' इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार लक्ष्य-ग्रन्थों का अवलम्बन लेकर लक्षणग्रन्थों की संरचना सम्भव होती है। प्रायशः लक्षणग्रन्थकार सभी आलङ्कारिक–साहित्य- सम्प्रदायाचार्यों ने **भर्त्तृहरि** महाभाग के प्रति अधमर्णता स्वीकार करके इनके ग्रन्थों को लक्ष्य मानकर अपने–अपने अलङ्कारशास्त्रीय लक्षणग्रन्थों की संरचना की है। इस तथ्य से आचार्य **भर्त्तृहरि** के साहित्यिक अवदान को मूलभित्ति के रूप में रेखाङ्कित किया जाता है और सर्वथा किया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में कतिपय आचार्यों के लक्षण- ग्रन्थों में प्राप्त सन्दर्भों को उद्घाटित करने का उपक्रम करते हैं।

काव्यादर्शकार आचार्यदण्डी (ईसा 7वीं शती) ने कर्मार्थसम्पादकहेत्वलङ्कार-निरूपण में कर्म के भेदत्रय– (क) निर्वर्त्य (ख) विकार्य और (ग) प्राप्य, की कल्पना **भर्तृहरि** के 'वाक्यपदीयम्' के आधार पर ही की है ; –

निर्वर्त्ये च विकार्ये च हेतुत्वं तदपेक्षया।

प्राप्ये तु कर्मणि प्रायः कर्मापेक्षैव हेतुता।।[11]

मालवास्थित धारानगरी के परमारवंशीय राजा मुञ्ज (974-994ई.) के राजसभासद तथा अप्रतिम नाट्यशास्त्रीय विद्वान् आचार्यधनञ्जय-धनिक (दशमशती ई.) ने अपने 'दशरूपकम्' में नायकभेद–प्रतिपादन के प्रथम पद्य के वर्णन में स्थिरनायक के उदाहरणरूप में 'नीतिशतकम्' के पद्य को उदाहृत किया है ; -

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति।।[12]

उत्तम, मध्यम तथा अधम स्वभाव वाले पुरुषों के कार्यारम्भ की विचित्रता का अवबोध कराने वाला यह पद्य 'वसन्ततिलका' छन्दोबद्ध है।

कविताकामिनीविलास कविकालिदास द्वारा प्रवर्त्तित परम्परा का अनुवर्त्तन करते हुए आचार्य धनिक ने भी नायिकाओं के अयत्नज अलङ्कार–निरूपण के प्रसङ्ग में शोभा नामक भेद के उदाहरण में **भर्त्तृहरि**कृत शृङ्गारशतक के पूर्वोक्त पद्य 16, एवमेव 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में प्रयुक्त पद्य ''अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः0''[13] को उद्धृत किया है।

इसी प्रकार, दशरूपककार रसविवेचन–सन्दर्भ में, रसलक्षण–प्रसङ्ग में विभाव का निरूपण करते हैं और अवलोकवृत्तिकार अनुज धनिक टीकाभाग में **भर्तृहरि**कृत वाक्यपदीयम् 3.7.5 साधनसमुद्देश-प्रकरण के श्लोक के माध्यम से इसे सुस्पष्ट करते हैं जो कि आचार्यदण्डी के अनुसरण को सङ्केतित करता है ; -

---

11. काव्यादर्शः 2/240, वाक्यपदीयम् 3/45
12. दशरूपकम् 2/1 अवलोकटीका, नीतिशतकम् 27
13. शृङ्गारशतकम् 16, अभि. शाकुन्तलम् 2/11, दशरूपकम् 2/35 पूर्वार्द्धम्, अवलोकटीका

शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।

प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥[14]

तत्त्वज्ञान से ही प्राप्त होने वाले निर्वेद नामक व्यभिचारीभाव का उदाहरण देते हुये आचार्यधनिक वैराग्यशतक का अधोनिर्दिष्ट पद्य प्रमाणस्वरूप समुदाहृत करते हैं ; यथा–

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं ?

दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ?।

सम्मानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं ?

कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ?॥ [15]

वसन्ततिलका छन्दोग्रथित प्रकृत पद्य भगवत्पाद आदिशङ्कराचार्यकृत 'यशोदाकिशोरे मनो वै न लग्नं, ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्? ''इत्यादि का अनुकरण प्रतीत होता है।

व्यभिचारीभाव के पाँचवें भेद 'धृति' को सन्तोषपूर्वक ज्ञान से उत्पन्न होने वाला स्वरूपतः लक्षित करते हुये वैराग्यशतक का निम्नलिखित पद्य उदाहृत किया गया है ;–

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या

सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः।

स भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला

मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ?॥[16]

छन्दःशास्त्र की दृष्टि से मालिनीच्छन्द में गुम्फित इस श्लोक में राजा के प्रति किसी योगी की उक्ति को वर्णित किया गया है।

राजानकरुय्यक अपर नाम रुचक (सन् 1135-1150 ई.) प्रणीत 'अलङ्कारसर्वस्वम्' में विकल्पालङ्कार–विमर्श के परिप्रेक्ष्य में जयरथकृत 'अलङ्कारविमर्शिनी' टीका में नीतिशतक का निम्नाङ्कित वसन्ततिलका पद्य उदाहरणरूप में निर्दिष्ट किया गया है ; –

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु

लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा

न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥[17]

कश्मीरी आचार्य रुय्यक के शिष्य महाकविमङ्खक (सन् 1128-1149 ई.) आभासोक्ति समाधिगर्भा वक्रोक्ति के विवेकार्थ शिखरिणीच्छन्द में निबद्ध शृङ्गारशतकोक्त प्रकृत पद्य व्यवहृत करते हैं जिसमें स्त्रियों के यौवनागम के समय दृष्टि आदि भावों के अतिरमणीयता को प्राप्त होने का संसूचन है ; -

14. दशरूपकम् 4/2 अवलोकटीका

15. दशरूपकम् 4/9 अवलोकटीका; वैराग्यशतकम् 73

16. दशरूपकम् 4/12 अवलोकटीका; वैराग्यशतकम् 53

17. अलङ्कारसर्वस्वम्, सूत्रं 65 अलङ्कारविमर्शिनीटीका, नीतिशतकम् 84 पद्यम्

स्मितं किञ्चिद्वक्त्रे सरलतरलो दृष्टिविभवः
परिष्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः।
गतीनामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिह न हि रम्यं मृगदृशः॥ [18]

साहित्यमीमांसाकारने यतिभङ्गस्थान के उदाहरण के रूप में नीतिशतक में 'मूर्ख व्यक्ति के चित्त को प्रसन्न कर पाना सर्वथा असम्भव है'; ऐसे पृथिवीच्छन्दोबद्ध लक्ष्यपद्य को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। यथा–

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेन्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥ [19]

उत्कलप्रदेशवास्तव्य आलङ्कारिक आचार्य श्रीविश्वनाथकविराज (13वीं शती ईस्वी) प्रणीत साहित्यदर्पणवर्णित समुच्चयालङ्कार के सदसद्योगभेद के निरूपण में नीतिशतक के पृथिवीच्छन्दोबद्ध इस अधोलिखित पद्य को उदाहृत किया गया है जिसमें समुच्चय के रूप में सात प्रकार के मानसिक दुःखों को एकत्र परिगणित किया गया है ;-

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे॥ [20]

साहित्यदर्पणकार द्वारा शान्तरस के स्थायीभाव शम का निरूपण करते हुये युक्त (ब्रह्मध्यानमग्न) तथा वियुक्त (सिद्ध)अवस्थाद्वय में विभक्त किया गया है। देवताविषयक रति के उदाहरण के रूप में वैराग्य-शतकगत शिखरिणी छन्दोनिबद्ध लक्ष्यात्मक दृष्टि से उपादेय पद्य अधस्तनानुसार प्रयुक्त किया गया है ;–

कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ! त्रिपुरहर! शम्भो! त्रिनयन!
प्रसीदेत्याक्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥ [21]

काश्मीराभिजन वाग्देवतावतार आचार्यमम्मट (11वीं शती ईस्वी) नवम शान्तरस के स्थायीभाव

---

18. साहित्यमीमांसा षष्ठप्रकरणम्, कारिका 355 वृत्तिभागः, शृङ्गारशतकम् 6 पद्यम्
19. साहित्यमीमांसा सप्तमप्रकरणम्, कारिका 408, नीतिशतकम् 5 पद्यम्
20. साहित्यदर्पणः दशमः परिच्छेदः, कारिका 84-85 पूर्वार्द्ध;वृत्तिभाग; नीतिशतकम् 56 पद्यम्
21. साहित्यदर्पणः 3/250 वृत्तिभागः; वैराग्यशतकम् पद्यम् 115

निर्वेद को वैराग्यशतकप्रोक्त शिखरिणीछन्दोबद्ध पद्य के माध्यम से उदाहृत किया है;–

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥[22]

काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में वाच्य और व्यङ्ग्य के 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्. इत्यादि में क्रमशः निषेध और विधिरूप होने से स्वरूपभेद के प्रतिपादन में शृङ्गारशतक के उपजाति छन्दोबद्ध लक्ष्यपद्य को उदाहरण-रूप में उपन्यस्त किया गया है ; -

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्॥[23]

पूर्वोक्त दशमशती ईसा के आचार्यधनिक ने धनञ्जयकृत दशरूपकम् की अवलोकटीका में तत्त्वज्ञान से ही प्राप्त होने वाले 'निर्वेद' नामक व्यभिचारीभाव के उदाहरण के रूप में वैराग्यशतक के वसन्ततिलका छन्दोबद्ध पद्य ''प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम्0'' इत्यादि (पूर्वलिखित) उपस्थित किया है, इसी पद्य को मम्मटाचार्य महाभाग ने अनवीकृतत्व 11वें अर्थदोष को उदाहृत करने के लिये ग्रहण किया है क्योंकि इस पद्य के चारों चरणों में प्रयुक्त 'ततः किम्' पदों में कोई नवीनता नहीं है।[24]

काव्यप्रकाशकार ने दशम उल्लास में समुच्चयालङ्कार के सदसद्योग के भेदविमर्श के उदाहरण के रूप में नीतिशतकम् के पृथिवीच्छन्दोबद्ध पद्य ''शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी0'' इत्यादि (पूर्वलिखित) उदाहृत किया है। इसी पद्य को अनुकरणरूप में कार्त्तज्ञभाव से श्रीविश्वनाथकविराज महोदय ने भी समुच्चयालङ्कार के सदसद्योगभेद के विमर्श में उदाहरणार्थ स्वीकार किया है।[25]

ध्यातव्य है कि **आचार्यभर्तृहरि**प्रणीत शतकत्रय के पद्य उपर्युक्त लक्ष्यलक्षणनिर्धारक काव्यसाहित्यशास्त्रीय-ग्रन्थों के अतिरिक्त विशाखदत्त के मुद्राराक्षसम् नाटक में, केशवमिश्रप्रणीत अलङ्कारशेखर, महाकविक्षेमेन्द्रकृत औचित्यविचारचर्चा, कविकण्ठाभरणम् और सुवृत्ततिलकम्, गोविन्दकृत काव्यप्रदीपः, वाग्भटप्रणीत काव्यानुशासनम्, नमिसाधुविलिखिता काव्यालङ्कारटीका तथा धारानरेश भोजराजकृत सरस्वतीकण्ठाभरणम् प्रभृति आलङ्कारिक-ग्रन्थों में सश्रद्ध समुद्धृत किये गये हैं। विश्वोपकारक शतकत्रय के सम्प्रति उपलब्ध कतिपय संस्करणों में पद्यसङ्ख्या क्रमशः 109, 106 तथा 125 भी प्राप्त होती है। इनकी समलङ्कृत रचनाशैली, वैदर्भीरीति तथा माधुर्य–प्रसादगुण सम्पन्न है। 'शतकत्रय' एक ही कवि आचार्य **भर्तृहरि** की तथा एक ही काल की कालजयी अमरकृति हैं।

---

22. काव्यप्रकाशः 4/47 सूत्रस्योदाहरणम्, वैराग्यशतकम् 113 पद्यम्
23. काव्यप्रकाशः 5/47 कारिकावृत्तिभागः, शृङ्गारशतकम् 18 पद्यम्
24. काव्यप्रकाशः 7/55-56-57 कारिकावृत्तिभागः, वैराग्यशतकम् 73
25. काव्यप्रकाशः 10/कारिका 116, सूत्रम् 177, नीतिशतकम् 76

कतिपय विद्वानों की यह धारणा कि इनके कुछ पद्य तन्त्राख्यायिका, अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा मुद्राराक्षसम् से ग्रहीत हैं जो कि कालमान से सर्वथा भ्रान्त एवं निर्मूल सिद्ध होती है। काव्यप्रतिभासम्पन्न **भर्त्तृहरि** विशाल छन्द 'शार्दूलविक्रीडित' के रचनाकौशल में परमप्रवीण हैं। शतकत्रय के अनुमानतः एक सौ एक 101 पद्य शार्दूलविक्रीडितच्छन्द में सन्दृब्ध हैं। इसके पश्चात् शिखरिणी की सङ्ख्या 48, अनुष्टुप् पद्य 37, वसन्ततिलका 35, स्रग्धरा और आर्या प्रत्येक 18-18 और गीतिआर्या का 2 बार प्रयोग किया गया है । कहीं-कहीं इन्द्रवज्रा, उपजाति, मालिनी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, शालिनी, रथोद्धता, वैतालीय, दोधक, पुष्पिताग्रा और मात्रसमक आदि छन्दों का सफलतम प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। निष्कर्षतः यह सप्रमाण सिद्ध होता है कि आचार्य **भर्त्तृहरि** का साहित्यिक-अवदान असीम तथा सार्वभौम है। शब्दब्रह्म की भाँति कालातीत तथा सर्वसहृदयरसिकजन परमोपास्य है।। जयतु संस्कृतम्।।

आचार्य
शासकीय संस्कृत महाविद्यालय
उज्जैन (म.प्र.)

राजस्थान की लोकपरम्परा में भर्तृहरि

डॉ. नीरज शर्मा

मालवानरेश उज्जैन नगर के अधिपति भर्तृहरि भारतीय इतिहास, साहित्य तथा शास्त्र तीनों में कालजयी अवदान के कारण समादृत हैं। महाराजा भर्तृहरि के राज्य, योग तथा तप के सम्बन्ध में अनेक लोकगीत, भजन-राग-रागिनियाँ न केवल मालवा तथा गुजरात में प्रचलित हैं अपितु राजस्थान के पूर्वोत्तर अञ्चल प्राचीन मत्स्यप्रदेश तथा वर्तमान में अलवर, दौसा, भरतपुर जिलों में भी भर्तृहरि लोक-परम्पराओं, लोकगीतों में सुप्रतिष्ठित हैं। अलवर राजस्थान का सिंहद्वार कहा जाता है जिसमें सरिस्का अभयारण्य प्राचीन विराटनगर की वन्य सीमाओं का स्पर्श करता है। राजस्थान में यह दृढ़ लोकमान्यता है कि उज्जैन के महाराजा भर्तृहरि ने इस घोर जंगल में तपस्या की थी। यहाँ भर्तृहरि नामक विश्वप्रसिद्ध लोकतीर्थ है जहाँ प्रतिवर्ष विशाल मेला आयोजित होता है जिसमें देश भर से लाखों नाथसम्प्रदाय के साधु-सन्त, दर्शनार्थी, शहरी–ग्रामीण सभी अपने पूज्य लोकदेवता अथवा आचार्य-परम्परा, कुल-शिरोमणि भर्तृहरि का पावन स्मरण–दर्शन कर कृतकृत्य होते हैं। इस मेले में हरियाणा, पंजाब, दिल्ली, हिमाचल, उ.प्र., म.प्र., गुजरात, बिहार तथा बंगाल सभी स्थानों से लाखों की संख्या में भक्त एकत्रित होते हैं। उज्जैन के महाराजा विक्रमादित्य यद्यपि प्राचीन लोककथाओं के नायक रहे हैं किन्तु इनके अग्रज भर्तृहरि जिन्हें अलवर की आंचलिक भाषा में भरथरी कहते हैं; राजस्थान की समकालीन लोक-परम्परा में लोकदेव के सर्वोच्च अभिमण्डित शिखर पर प्रतिष्ठित हैं।

राजर्षि अभय समाज एवं भर्तृहरि

अलवर में सन् 1916 में हरिकीर्तन-समाज की स्थापना हुई जो कालान्तर में राजर्षि अभय समाज के नाम से विख्यात हुआ। राजर्षि अभय समाज शहर के लब्धप्रतिष्ठ व्यवसायियों, कार्मिकों, सामाजिकों, कला-प्रेमियों का संगठन है जिसमें वे पारसी थियेटर शैली में प्रतिवर्ष रामकथा तथा भर्तृहरि नाटक का मंचन करते हैं। यह आयोजन प्रतिवर्ष दशहरा, दीवाली के मध्य चलता है। विजयादशमी से दीपावली पूर्व तक भर्तृहरि नाटक का आयोजन होता है। भर्तृहरि की प्रचलित लोककथा, नाथसम्प्रदाय की मान्यताओं, भर्तृहरि के शतकत्रय के आधार पर पूरी रात्रि पर्यन्त चलने वाले भव्य–दिव्य नाटक का आयोजन होता है। सिनेमा के दौर में जहाँ थियेटर अत्यन्त विपन्नदशा को प्राप्त हो गया है वहीं भर्तृहरि

नाटक में प्रतिवर्ष पूरे सत्रह आयोजन लोग दूर–दराज से आकर टिकट खरीदकर पूरी रात्रि एकटक देखते हैं। 3500 लोगों के बैठने की व्यवस्था है और सीटें भरने के बाद भी दर्शक पूरी रात खड़े–खड़े भी नाटक देखते हैं । भर्तृहरि का यह कथानक रंगमंच की पारसी-शैली में, देश में एकमात्र जीवन्त आयोजन,अभय-समाज की पहचान बन चुका है। विगत 56 वर्षों से अनवरत यही नाटक प्रतिवर्ष प्रतिरात्रि आयोजित हो रहा है। सभी अभिनेता कलाकार निःशुल्क अपनी सेवायें प्रदान करते हैं तथा संगृहीत धन मंच-सज्जा, आयोजन तथा लोकोपकारी कार्यों में ही व्यय होता है। राजर्षि अभय समाज, अलवर द्वारा सन् 2007 में भर्तृहरि नाटक की स्वर्णजयन्ती धूमधाम से मनाई गयी तथा 'तपस्या' के नाम से स्मारिका का भी प्रकाशन किया गया। उल्लेखनीय है कि राजस्थान के पूर्व राज्यपाल श्रीकल्याणदत्त शर्माजी ने स्वयं सेवक के रूप में अपनी सेवायें इस नाटक में दी थीं । विगत एक दशक से अधिक समय से अलवर भाजपा के शीर्ष नेता तथा समाजसेवी पं. धर्मवीर शर्मा राजर्षि अभय समाज के अध्यक्ष रहे हैं जिन्होंने इस संगठन को नई ऊँचाईयाँ दीं तथा अलवर के लोकदेवता तपोमूर्ति भर्तृहरि के गुणानुवाद के इस आयोजन को भव्यता प्रदान की है। मैं विक्रमादित्य शोध संस्थान में आह्वान करता हूँ कि महाराज भर्तृहरि कथानक के विविध स्वरूपों तथा लोकसंस्कृति के अन्तर्सम्बन्धों पर संगोष्ठी अलवर में राजर्षि अभय समाज में आयोजित करें। अलवर के श्रीमधुसूदन वैदिक संस्कृति संस्थान के निदेशक की हैसियत से मैं यह आयोजन अभय समाज के तत्त्वावधान में प्रस्तावित करता हूँ।

भर्तृहरि लोकतीर्थ, कथानक तथा समकालीन लोकगीत

भर्तृहरि नामक विश्रुत लोकतीर्थ राज्य की राजधानी जयपुर से उ.पू. दिशा में राज्यमार्ग पर 110 किलोमीटर तथा अलवर जिला मुख्यालय से 30 कि.मी. जयपुर की ओर धानागाजी तहसील में सरिस्का जंगल में स्थित है। अरावली की सुरम्य उपत्यकाओं में भर्तृहरि के तपःप्रभाव से निरन्तर प्रवाहित जलस्रोत के निकट, भर्तृहरि का समाधिस्थान तथा कालान्तर में निर्मित मन्दिर है जिसमें शताब्दियों से निरन्तर ज्योति जल रही है। यहीं एक प्राचीन जागृत धूणा भी है। यह विश्वास है कि अमरफल खाने के बाद भर्तृहरि अमर हो गये तथा योगी के रूप में भ्रमण करते हुये यहाँ आये तथा यहीं पर उन्होंने तप किया। भर्तृहरि अमर हैं तथा अब भी किसी न किसी रूप में यहाँ विद्यमान रहते हैं। यहाँ विभिन्न सम्प्रदायमतावलम्बी भक्त-श्रेष्ठियों, समाजजनों द्वारा अनेकों धर्मशालायें बनवाई गयीं तथा सुविधास्थान बनाये गये हैं। प्रतिवर्ष भाद्रपद माह में यहाँ विशाल मेले का आयोजन होता है जिसमें लाखों–लाख भक्तों, साधु-सन्तों का जमघट रहता है। कई भक्त तो कई दिन, सप्ताह, महीनों से दण्डवत्- प्रणाम की मुद्रा में यात्रा करते हुये भाद्रपद मेले में भर्तृहरि-धाम पहुँचते हैं। यहाँ मेले में सैंकड़ों तान्त्रिक, मान्त्रिक, सपेरे, नाथसम्प्रदाय के संन्यासियों का कालक्षेप होता है। मेले में समकालीन राजस्थान के आंचलिक लोकरंग तथा लोकसंस्कृति का भरपूर दर्शन होता है। इस मेले में सहभागी होकर भरथरी बाबा के दर्शन करना महान् सौभाग्य का विषय समझा जाता है। समकालीन राजस्थानी

लोकगीतों–भजनों में मेला देखने जाने तथा बाबा भर्तृहरि के दर्शन की परस्पर प्रेरणा प्रदान की गयी है। जन–जीवन के विभिन्न अवसरों पर भर्तृहरि-तीर्थ की यात्रा भावी अनिष्टों का निवारण तथा सङ्कल्पित कार्यों एवम् आयोजनों की निर्विघ्न पूर्णता का परिचायक समझी जाती है । भर्तृहरि के लिये अलवर–जयपुर से नियमित बस-सेवा उपलब्ध रहती है। भर्तृहरि के साथ–साथ सरिस्का वन्य-क्षेत्र के सघन सम्भाग में स्थित पाण्डुपोल की भी यात्रा भक्तजन प्रायः करते हैं। पाण्डुपोल पाण्डवों के वनवास का साक्षी तथा प्राचीन विराटनगर के सीमान्त क्षेत्र में स्थित है। यहाँ लेटे हुये हनुमान्जी की प्रतिमा है जिन्होंने भीम का अभिमान खण्डित कर उसे विजय का आशीर्वाद प्रदान किया था।

भर्तृहरि मत्स्याञ्चल के लोक-जीवन में आस्था तथा विश्वास के सबसे बड़े केन्द्र हैं । खेती–काश्तकारी, मकान, दूकान, फसल बुवाई, कटाई, बेचान, शादी–ब्याह, जच्चा–बच्चा, जात–जडूले, कुआँ, बावड़ी, गाड़ी, घोड़े, नौकरी-धन्धा, हारी–बीमारी, अकाल–सुकाल आदि जन- जीवन के सभी हर्ष तथा विषाद के अवसरों पर लोक-संवेदना को सर्वाधिक आधार प्रदान करने वाले जनगण-मंगलदायक बाबा भर्तृहरि लोकमानस को ऊर्जा व प्रेरणा प्रदान करते हैं। एम एम रेडियो, सिनेमा तथा टेलीविजन के आगमन से पूर्व लोकरंजन तथा लोकशिक्षण का कार्य लोककथाओं के ऐतिहासिक–गौरवपूर्ण तथा प्रेरणादायक प्रसंगों द्वारा भजनों–गीतों तथा ख्यालों के माध्यम से होता था। सरस जीवन का आतृप्ति आकांक्षित भोग तथा तदुपरान्त भोग की निस्सारता, नश्वरता, नश्वरता की घोषणा के साथ वैराग्य की उज्ज्वल पताका फहराने वाले, संसार को कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का बोध कराने वाले कालजयी चरित्र ही ऐसी लोककथाओं के नायक हो सकते हैं। भर्तृहरि लोकनायक के रूप में ही नहीं राजस्थान के पूर्वोत्तर-सम्भाग में लोकदेवता के रूप में जन–जन की श्रद्धा और समर्पण के हेतुभूत बन गये । ख्याल तथा ख्यात के रूप में गोपीचन्द्र-भरथरी के किस्से जोगियों द्वारा ग्रामीण सान्ध्य-सङ्गोष्ठियों में सदियों से सुनाये जाते रहे हैं। जयपुर की प्रख्यात तमाशा-शैली में भी यह कथानक होली के अवसर पर फाल्गुन की बयार में खेला जाता रहा है।

भर्तृहरि का कथानक किस्सा-शैली में खूब लोकप्रिय है। एक कथा में पँवारवंशी उज्जयिनीनरेश भर्तृहरि का गन्धर्वसेन के यहाँ जन्म हुआ, जन्म के समय ज्योतिषी द्वारा नामकरण के साथ ही बालक के महान् योगी होने की घोषणा की जाती है। रानी द्वारा अनुनय करने पर ज्योतिषी ने श्वेत अश्व पर उत्तर-दिशा में शिकार करने पर योग धारण की घोषणा की। 17 वर्ष की आयु में पिंगला से विवाह हुआ। एक बार पिंगला द्वारा बहुत रोके जाने पर भी राजा शिकार के लिये उत्तरदिशा में गया। सौ हरिणियों के मध्य एकमात्र मृग को राजा ने मार दिया। राजस्थानी बोलियों में संवादात्मकशैली में ये संवाद अत्यन्त मार्मिक हैं। मृग ने मरते समय अपनी अन्तिम इच्छा व्यक्त करते हुये अपना नश्वर शरीर परोपकारार्थ समर्पित किया। अपना कृष्णचर्म गोरखनाथ तपस्वी को धूणे पर बिछाने, पैर युद्ध में दौड़ने वाले वीर को, सींग अलख जगाने वाले साधु को तथा आँखें काजल–सुरमा बनाने के लिये रानी पिंगला को देने की याचना

की। मृग की मृत्यु के बाद अनेक मृगियों के प्राणत्याग दिये जाने पर राजा को अत्यन्त पश्चात्ताप होता है। वह हरिण के चारों पैर बाँधकर उसे घोड़े की पीठ पर लादकर चलने लगा। मार्ग में गोरखनाथ से भेंट हुई, गोरखनाथ ने भभूत छिड़ककर मृग को जीवित किया तथा भरथरी के अत्यन्त आग्रह के कारण उसे शिष्यत्व प्रदान किया। गुरु-आज्ञानुसार भर्तृहरि ने पिंगला को माता का सम्बोधन देकर भिक्षा की याचना की। लोक-कथा में संगीत-वाद्यों के साथ ये सभी संवाद अत्यन्त हृदयावर्जक प्रतीत होते हैं। अन्य कथानक में राजा ने मृग की मृत्यु के बाद अनेक मृगियों की मृत्यु देखकर उनके आत्यन्तिक प्रेम को जानकर, अपने प्रति पिंगला के प्रेम का परीक्षण करने का विचार किया। मृग के रुधिर में अपना वस्त्र रंजित कर सेवक के द्वारा पिंगला को अपनी मृत्यु का सन्देश भेजा। पिंगला राजा की भावभूमि समझकर स्वयं को स्वाहा कर देती है। वन में एक शिकारी के वृत्तान्त को देखकर राजा को पिंगला का स्मरण हुआ तथा राजा ने लौटकर चिता के पास अत्यन्त विलाप किया। गोरखनाथ द्वारा राजा को वैराग्य दिलाया गया। अन्य प्रसिद्ध कथानक अमरफल वाला है जो किस्सा–ख्याल में खूब गाया जाता है।

भर्तृहरि मेला एवं समकालीन लोकगीत- मत्स्य-अंचल मीणा जनजाति बहुल क्षेत्र है जहाँ वर्तमान राजनैतिक–आर्थिक–सामाजिक-परिवर्तनों के फलस्वरूप राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में किसानों के जीवनस्तर में व्यापक सुधार हुआ है। लोकजीवन का उल्लास वर्तमान लोकसंगीत में अनुभवगम्य है। उपभोग-संस्कृति का प्रभाव भी इन गीतों में सुनाई देता है। भर्तृहरि के शृंगार, वैराग्य तथा नीतिशतक इन तीनों का प्रभाव इस लोकसंगीत पर है। भर्तृहरि के मेले में जाने की प्रेरणा, मानिनी नायिका द्वारा भर्तृहरि-दर्शनार्थ जाने की जिद, पति-पत्नी, प्रेमी–प्रेमिका, ननद–भौजाई, सास–बहू आदि सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में भर्तृहरि मेले में जाने का उत्साह इन गीतों के बोलों में देखते ही बनता है। भर्तृहरि मेले में नायिका का पीला पोमचा (वस्त्र) पर्यवसित होता है–

यो फर–फर करतो जावे, यो सबके मनड़े भावे।
अरे भरथरी के मेला में पीलो पोमचो लहरावे॥
अरे रे झूम–झूम कर गावे यो जय जयकार लगावे।
अरे भरथरी के मेला में पीलो पोमचो लहरावे॥
अरे रे यो परसादी ल्यावे यो फूलां हार सजावे।
अरे भरथरी के मेला में पीलो पोमचो लहरावे॥

(हिना सेन एलबम)

एक गीत में नायिका स्वयं पर नागिन का आरोप कर भर्तृहरि मेले में नृत्य करती हुई कहती है–

अरे भरथरी के मेला मांई बीण बजावे जोगी।
अरे भरथरी में नांचू जियां नाग लपेटा लेवे॥

आषाढ़, श्रावण की वर्षा के बाद अरावली में छाई हरियाली के बीच भाद्रपद मास में भर्तृहरि-मेला आयोजित होता है। मेले में जाने का उत्साह कृषक स्त्री–पटेलन द्वारा एक गीत में कुछ इस प्रकार

अभिव्यक्त हुआ है–

भरथरी को मेलो लाग्यो छा रही हरियाली
भरथरी को मेलो लाग्यो जावे दुनिया सारी।
अरे कोई जावे मोटर मांही कोई पाली–पाली
चाली चाली रे पटेलन मेला में।
अरे भरथरी को मंदिर प्यारो डूंगरा के मांही
दूर–दूर से घणा जातरी आवें दर्शन तांही
अरे चाली चाली रे पटेलन मेला में।
माथां माले मेल गांठडी हाथ में लेलियो केलो
अरे खाती–खाती चाली पटेलन चोखो कटग्यो गैलो
चाली–चाली रे पटेलन मेला में

(गीता शर्मा, चालो धाम भरथरी)

आज सम्पर्क एवं संवाद का सर्वाधिक प्रचलित माध्यम मोबाईल फोन है। मीणावाटी के लोकगीतों में इस आग्रह के साथ मोबाईल माँगा जा रहा है कि इसीसे बाबा भरथरी से बात हो सकेगी–

बाबा दिलवाद्यो मोबाईल फोन भरथरी से बात करूँ
भरथरी से बात करूँ म्हारा बाबा से बात करूँ
नोकिया को मोबाईल दिलाद्यो बी.एस.एन.एल. की सिम डलवाद्यो
अरे इमे लागे एक रुपिया को कॉल भरथरी से बात करूँ
भरथरी का नम्बर लगाद्यो म्हारो बाबा से जरूरी काम
भरथरी से बात करूँ म्हारा बाबा से बात करूँ
कोई बात सासू-साली से करता, कोई घरवाली से करता
म्हारो भरथरी से गहरो गहरो प्यार भरथरी से बात करूँ

घर-परिवार–संसार का त्यागकर वैराग्य धारण करने वाले भर्तृहरि के इस दृढ़ निश्चय पर आश्चर्य व्यक्त करते हुये एक लोकगीत में उनके इस कथानक को इस प्रकार कहा गया है–

ओ राजपाट उज्जैन को छोड्यो छोड़ दियो परिवार।
और बणगो चेलो गोरखनाथ अरे छोड्यो सब संसार।।
कांई ठाणी रे कांई ठाणी रे भरथरी मन मांही छोड़ के परिवार बणगो जोगी
जंगल मांही धूणो तपै तू बण के भिखारी भिक्षा माँगे तू
थारा शीश पर लम्बी–लम्बी जटा आगी। छोड़ के परिवार बणगो जोगी।
अरे एक हाथ में लियो चीमटो एक हाथ लियो तूमड़ो

राणी पींगला ने माता कहेर भिक्षा मांगी। छोड़के परिवार बणगो जोगी।

अरे अलवर के गैला में आवे थारी रे समाधि।

दर्शन करबा थारे धाम दौड़ी दौड़ी आगी।

सारी दुनिया में जै जैकार थारी होरी।

छोड़ के परिवार कांई ठाणी रे भरथरी मन मांही छोड़ के परिवार बणगो जोगी।

भाद्रपद महीने में एक किसान खेती छोड़कर मेले में जाने की जब अनिच्छा जता देता है तो उसकी पत्नी अकेली ही मेले में जाने को उद्यत होती है तथा भरथरी-यात्रा का टिकट कराने को कहती है–

अरे गाड़ी में बिठादे म्हारो टिकट कटा दे जद चालूँ म्हारा बलमा

अरे जद चालूँ म्हारा परण्या, जद चालूँ जी बलम जी

धाम भरथरी दर्शन करके आऊँगी

भोग लगादे, पाण्डुपोल में नुहा दे

अरे रे जद चालूँ जी, धाम भरथरी दर्शन करके आऊँ।

वर्तमान परिवेश तथा सिनेमा से लोकगीत अछूते नहीं रहे। विगत कुछ हिन्दी सिनेमाई गीतों में छाई हुई शीला को मुन्नी की बदनामी के भय से भयभीत गायिका जिन्दगी की नश्वरता का स्मरण कराते हुये भरथरी बाबा के गुणगान की सलाह देती है। इस लोकगीत के बोल कुछ इस प्रकार हैं; –

ऐ शीला भाभी चाल ये भरथरी मेले या जिन्दगी दो दिन की मेहमान।

ओ दो दिन की मेहमान या मुन्नी हो गयी ये बदनाम।

चमक चाँदनी थोड़ा दिनाँ की मत कर स्यान गुमान।

ऐ शीला भाभी मत कर स्यान गुमान।

आगे जीवन भारी, कर ले बाबा को गुणगान, ऐ शीला भाभी चाल रे भरथरी मेले,

या जिन्दगी दो दिन की मेहमान

वर्तमान पारिवारिक–सामूहिक आयोजनों में नृत्य–गीत के कार्यक्रम डी.जे. के बिना नहीं होते हैं। अलवर क्षेत्र में भी डी.जे. लोकरंग में अपना स्थान बनाता जा रहा है। नायिका भरथरी के मेले में डी.जे. लगवाने का आग्रह करती हुई जमकर नाचने का सङ्कल्प व्यक्त करती है। गीत में ग्रामीण वेशभूषा, वातावरण, खानपान का वर्णन भी है। यह गीत पूरे पूर्वोत्तर राजस्थान की पार्टी, सामाजिक, पारिवारिक, समारोहों में खूब बजता रहा है –

पीली लूगड़ी लांबो घूंघट काढ़ लेबा दे

रे लगवा भरथरी के डी.जे. जमकर नाच लेबा दे।

लुक लुक नाच लेबा दे।

अरे इन्दर बरसे बिजली चमके गाज लेबा दे

अरे हाथां मेंहदी पैगी रे छोरा नाच लेबा दे।
ये शक्करपारा पुआपुड़ी तो बांध लेबा दे
डियो रे डियो रे डियो रे जमकर नाच लेबा दे
अरे मेथी छूंकण द्यूं रे कैरी रांध लेबा दे
रे लगवा भरथरी के डी.जे. जमकर नाच लेबा दे।

स्पष्ट है कि राजस्थानीय मत्स्याञ्चल में आने वाले अलवर, भरतपुर, दौसा, करौली आदि स्थानों में भर्तृहरि लोकसंस्कृति के अविभाज्य पर्याय हैं। वर्तमान समाज में आर्थिक-विकास, प्रगतिशील चिन्तन एवम् अन्य समुन्नत दशाओं में भी भर्तृहरि अपने श्रद्धास्पद मूलस्वरूप लोक-आस्था के केन्द्र में विद्यमान हैं ही; साथ ही इन परिवर्तनों के फलस्वरूप भर्तृहरि जनजातीय ख्याल गीतों के साथ निरन्तर लोकप्रिय वर्तमान ग्राम्य-संगीत में भी उतने ही प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हैं। साररूप में कहा जा सकता है कि भर्तृहरि और मत्स्याञ्चल लोक-संस्कृति के आधार में बहुत गहरे, परस्पर पवित्र अपनत्व के भाव से सम्बद्ध हैं। भर्तृहरि मत्स्याञ्चलीय जन-मानस को निरन्तर भोग से योग की ओर प्रस्थान की प्रेरणा दे रहे हैं।

अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

सन्दर्भ

1. www.youtube.com
2. तपस्या; स्मारिका 2007, राजर्षि अभय समाज, अलवर (राजस्थान)

भर्तृहरि और नानकदेव

डॉ. किरण रमण

गुरुनानकदेवजी का अपनी तीसरी अदासी (धार्मिक यात्रा) में उज्जैन आगमन हुआ। आप गिरनार पर्वत जूनागढ़ से पहले उत्तर फिर पूर्व का सफर कर अहमदाबाद होते हुए चम्बल नदी पार कर महिदपुर पहुँचे तथा इस रास्ते से 28 आसाढ़ 1528 वि.सं. को उज्जैन के शिप्रा नदी के तट पर पहुँचे एवं स्नान किया। राजा विक्रमादित्य उज्जैन के राजा थे तथा इनके भाई भर्तृहरि जो गृहस्थ जीवन त्यागकर जोगी बन गये थे, की गुफा बहुत प्रसिद्ध है। इस गुफा में हर प्रकार के हिन्दू यात्री आते थे। जब भर्तृहरि जोगी ने शिप्रा तट पर विराजित गुरुनानक एवं मरदाना (शिष्य) को कीर्तन करते हुए देखा तो वह बहुत प्रभावित हुआ और गुरूजी को प्रणाम कर प्रश्न किया कि यहाँ पर आने वाले बहुत से जोगियों को मुक्ति प्राप्त होगी। तब गुरूजी ने उत्तर में यह शब्द उच्चारित किया–

अधिआतम करम करे ता साचा। मुकित भेद किआ जाणे काचा।
ऐसा जोगी जुगति विचारै। पंच मारि सचु उरधारै॥
जिसके अंतर साच वसावै। जोग जुगति की कीमति पावै॥
रवि ससि एको ग्रिंह उरिआनै। करणी कीरति करम समानै॥
एक शब्द इक लिखआ मांगै। गिआन धिआनु जुगति सचु जागै॥
भै रचि रहे न बाहरि जाए। कीमत कऊण रहे लिख लाऐ॥
आपे मेले भरमु चुकाऐ। गुरू परसादि परम पर पाऐ॥
गुरू की सेवा शबद विचारू। हओ मैं मारे करणी मानु॥

(गउडी महला पहिला असटपदियाँ) 161 (223)

यह शबद सुनकर भर्तृहरि जोगी के मन की कई शंकाए दूर हो गईं और अनेक विषयों के बारे में गुरूजी से शास्त्रार्थ कर उसने शबद नाम की महिमा का ज्ञान प्राप्त किया।

एक दिन भर्तृहरि जोगी बड़े विनम्र भाव से गुरूजी के पास आए और कहने लगे 'आम भोजन आप खाते नहीं, हम वृक्ष-वनस्पति के बीच रहते हैं। कौन सी वस्तु का भोजन आपके समक्ष रखूँ जिससे आप प्रसन्न होवें ? आप रिद्धी–सिद्धी से प्राप्त वस्तुएँ भी स्वीकार नहीं करते। मुझे दुःख हो रहा है कि मैं आपकी कोई सेवा नहीं कर सका।' यह सुनकर गुरूजी ने शबद उच्चारित किया–

खिमां गही ब्रत सील संतोखं। रोग न बिआपै न जम दोखं।
मुकत भए प्रभ रूप न रंखां।
जोगी कओ कैसा डरर होए। रूखि बिरखि ग्रिहि बाहर सोए।
निरभओं जोगी निरंजन धिआवै। अनंदिन जागै सच लिव लावै।
सो जोगी पेरे मन भावै।
काल जाल ब्रह्म अगनी जारे। जरा मरण गतु गरभ निवारे।
आप तरै पितरी निसतारे।
सतिगुरू सेवे सो जोगी होए। मै रचि रहै सु निरभओं होए।
जैसा सेवे तैसा हो ऐ।
नर निहकेवल निरभाओं नाओं। अनाथह नाथ करें बलि जाओं।
पुनरप जनम नाही गुण गाओ।
अंतरि बाहरि एकों जाणै। गुर के शबदे आप पछाणै।
साचै सबदि दरि नीसाणैं।
सबिदि मरै तिसु निजघरि वासा। आवै न जावें चूके आसा।
गुरू के सबदि कमलु परगासा।
जो दीसे सो आस निरासा। काम क्रोध–बिखु भुख पिआसा।
नानक बिरलै मिलहि उदासा। (गुउडि महला पहिला असटपदियाँ) 161 (223)

यह शबद सुनकर भर्तृहरि अति प्रसन्न हुए एवं गुरूजी को नमस्कार किये। इसी तारतम्य में शास्त्रार्थ एवं ज्ञान चर्चा होती रही। भृर्तहरि जोगीजी ने गुरूजी से प्रश्न किया कि आपका ज्ञान-मार्ग क्या है ? आप कौन से स्नान को महत्ता देते हैं ?आप किसका सिमरन करते हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर में गुरूजी ने शबद का उच्चारण किया –

ऊतरि अवघरि अवघटि नावै। बकै न बोलै हरिगुण गावै।
जलु अकासी सुनि समावै। रसु सतु झोलि महा रस पावै।
अैसा गिआनु सुनहे अभ मोरे। भरि पुरि धारि रहिया सभ ढ़ुरे।
सचु व्रत नेमु न काल संतावै। सतिगुर सबदि करोधु चुकावै।
गगनि निवास समाधि लगावै। पारसु परसि परमपदु पावै।
सचु मन कारणि तत बिलौवे। सुभरि सरवरि मैलु न धौवे।
जै सिओं राता तैंसो हौवे। आपै करता करै सु हौवे।
गुर हिव सीतलु अगन बुझावै। सुरति विभूति चढ़ावै।
दरसनु आपि सहजि घारे आवे। निरमल बाणी नादु बजावै।
अंतरि गिआनु महा रसु सारा। तीरथ मजनु गुर वीचारा।
अंतरि पूजा थान मुरारा। जोती जोत मिलावण हारा।

रसि रसिया मति ऐकै भाए। तखति निवासी पंच समाए।
कार कमाई खसम रजाए। अवगतु नाथ न लखिआ जाए।
जल महि उपजै जल ते दूरि। जल महि जोति रहिआ भरपुरि।
किसु नेडै किसु आखा दूरि। निधि गुण गांवा देख हदूरि।
अंतरि बाहर अवर न कोए। जो जिस भावै से फून होए।
सुणि भरथरि नानक कहै वीचारू। निरमल ना मेरा आधार।

आसा महला पहिला असटपदियाँ 191 (411)

यह शब्द सुनकर भर्तृहरि जोगीजी के समस्त संशय दूर हो जिज्ञासाएँ शान्त हुईं। जोगीजी ने गुरुनानक देवजी को सादर प्रणाम किया। कुछ समय तक गुरूजी भर्तृहरि के पास रहकर उत्तरदिशा की ओर प्रस्थित हो इन्दौर पहुँचे।

एफ 2/28, आवास-परिसर
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

सन्दर्भ

1. जनम साखी गुरु नानक क्रित मिहरबान
2. नवारिख गुरु खालसा
3. व्यक्तिगत चर्चा डॉ. बलवीर सिंह मक्कड़

भर्तृहरि-गुफा एवं परिक्षेत्र के पुरा–साक्ष्य

डॉ. रमण सोलंकी

प्राचीन उज्जयिनी क्षेत्र के पश्चिम की ओर शिप्रा नदी के पूर्वीतट पर स्थित भर्तृहरि-गुफा का यह स्थान नाथसम्प्रदाय के अन्तर्गत शैव-उपासना का पारम्परिक केन्द्र है। भर्तृहरि नाथ-सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक नवनाथों में अपना विशेष स्थान रखते हैं। भर्तृहरि के साहित्य से उनकी शिव–भक्ति का भी प्रमाण मिलता है। नाथसम्प्रदाय के अन्तर्गत भी प्राचीनकाल से ही शैवपूजापद्धति का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है। जहाँ तक उज्जैन का प्रश्न है, शिवभक्ति के विभिन्न पन्थों का शाक्त, पाशुपत, कापालिक तथा अघोरपन्थ आदि सभी शैव-आराधना के सम्प्रदायों का यह सशक्त केन्द्र रहा है। भर्तृहरि-गुफा नाथसम्प्रदाय का प्राचीन मठ है। यद्यपि इस गुफा में गुरु गोरखनाथ का स्थान भी विद्यमान है फिर भी गुफा का नाम भर्तृहरि-गुफा के नाम से ही प्रसिद्ध है जो नाथ-सम्प्रदाय में भर्तृहरि के महत्त्व को प्रमाणित करता है।

भर्तृहरि-गुफा का यह स्थान आज जिस रूप में विद्यमान है उसका निर्माण-शिल्प परमारकालीन है। ऊपरी भाग की बनावट में कुछ परिवर्तन अथवा विध्वंस कालान्तर में घटित होना स्वाभाविक है, परन्तु प्राचीन वास्तुशिल्प का पर्याप्त भाग मूलरूप में भी विद्यमान है। गुफा के निर्माण में जिस प्रकार के अलङ्कृत स्तम्भ, स्तम्भाधार और स्तम्भशीर्षों का उपयोग हुआ है, उसका रचनाकाल दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी है।

गुफा के अन्दर ही सभामण्डप के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। यहाँ निर्मित स्तम्भों पर 1625 संवत् का अङ्कन और एक लेख भी प्राप्त होता है। प्राप्त इन साक्ष्यों से मुगलकाल में भी गुफा के पुनर्निर्माण एवं नाथ-सम्प्रदाय के प्रभुत्व पर प्रकाश पड़ता है। गुफा में प्राप्त शिव और विष्णु की प्रतिमा से भर्तृहरि के आराध्य 'केशवो वा शिवों वा विष्णुः' अथवा शिव की भावना का समर्थन भी हो जाता है

परिक्षेत्र के पुरा साक्ष्य

पुरातात्त्विक उत्खनन - गढ़कालिका उत्खनन से हाथी दाँत के पाँसे, चूड़ियाँ, आभूषण, अञ्जनशलाका, कंघे, ब्राह्मी में लिखित सील आदि 600 ईसा पू. के कालखण्ड के मिलते हैं। लोह-अस्त्र व लोहनिर्माण-शाला के प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है कि यहाँ रासायनिक-क्रिया द्वारा लोहे के तीर, भाले, सुइयाँ व अस्त्र–शस्त्र निर्माण होता था।

लकड़ी की दीवार - गुफा-परिक्षेत्र में चण्डप्रद्योत के काल की निर्मित शिप्रा तट पर एक लम्बी दीवार प्राप्त होती है जो कि गुफा परिक्षेत्र से होती हुई आज भी पीर मत्स्येन्द्रनाथ की समाधि तक स्पष्ट-रूप से दिखाई देती है। यहाँ प्रयुक्त की गई लकड़ी अंजन वृक्ष की है जिसे हम कालिया भी कहते हैं।

यह परिक्षेत्र और भर्तृहरि-गुफा प्राचीनकाल से ही सोलह महाजनपदों में अवन्ती महाजनपद की राजधानी उज्जयिनी का प्रतिनिधित्व करती रही है।

एफ 2/28 आवास परिसर
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

सन्दर्भ –

1. भर्तृहरि – डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित
2. भर्तृहरि-स्मारिका – बी.एन. मुण्डी (1979 उज्जैन)
3. नाथसम्प्रदाय – हजारी प्रसाद द्विवेदी – उज्जैनदर्शन-सिंहस्थ-1957
4. इंडियन आर्कियालाजी ए रिव्यु – 1957-58 पृष्ठ 32-34

भर्तृहरि और उत्तर आधुनिकता

डॉ. नरेन्द्र इष्टवाल

भारतीय इतिहास में भर्तृहरि एक विरल एवम् अद्‌भुत व्यक्तित्व है जिसका जितना सम्मान लोक में है उतना ही शास्त्र में अर्थात् विद्वत्-समुदाय में। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था – अपने समय का सूर्य शासक, संवेदनशील कवि, चोट खाया हुआ प्रेमी और मौलिक भाषाशास्त्री। लेकिन यह उनका दुर्भाग्य रहा कि उनके जीवन की त्रासदी रानी पिङ्गला-प्रसङ्ग लोक में बहुत लोकप्रिय हुआ जिससे लोक में उनके प्रति गहरा सम्मान-भाव भी बना। इसी प्रसङ्ग में उनका सब कुछ त्यागकर वैरागी बनकर एक त्यागी का रूप लोक के मानस में प्रतिष्ठित हो गया। उनका यह रूप कितना स्थापित है ? इसका एक ही प्रमाण काफी होगा कि आज भी अलवर (राजस्थान) में पूरे पन्द्रह दिन तक भर्तृहरि नाटक नियमित खेला जाता है और उसे देखने वालों की भीड़ प्रतिदिन बढ़ती जाती है। इसके साथ ही भर्तृहरि शृङ्गारशतक, नीतिशतक, वैराग्यशतक की शृङ्खला रचने वाले एक संवेदनशील कवि के रूप में उभरते हैं। उनके कवि-कर्म की श्रेष्ठता का प्रमाण यही है कि उनके इन शतकों के अनुवाद विश्व की सर्वाधिक भाषाओं में हुए हैं। इन शतकों ने भर्तृहरि को संस्कृत के श्रेष्ठ कवियों में सम्मान दिलाया है।

किन्तु भर्तृहरि एक मौलिक तथा उच्चकोटि के भाषा वैज्ञानिक थे, उनका यह रूप लगभग उपेक्षित सा रहा है। उनका ''वाक्यपदीयम्'' ग्रन्थ संस्कृत में एक नयी वैयाकरण-परम्परा का सूत्रपात करता है। गोरखनाथ के शिष्य भर्तृहरि एक ऐसे व्यक्तित्व के रूप में हमारे समक्ष आता है जिसके बारे में कहा जाता है कि वह ''सात बार भिक्षु बना और सात बार ही गृहस्थी में आया''। इस बारे में चीनी तीर्थयात्री इत्सिंग ने, जो सातवीं सदी के अन्त में भारत-यात्रा पर आया था, इस बात का उल्लेख किया है। प्रो. ए. डब्ल्यू जैकसन ने भी इत्सिंग की यात्रा के प्रसङ्ग में भर्तृहरि का उल्लेख किया है। दुर्भाग्य की बात यह है कि भर्तृहरि से सम्बन्धित सभी कथाएँ या तो उनके संन्यासी-जीवन से सम्बन्धित हैं या शतकों के रचनाकार के रूप में। बहुत कम विद्वान् इस तथ्य को रेखाङ्कित करते हैं कि भर्तृहरि एक समर्थ वैयाकरण और दार्शनिक थे। यह भी एक विडम्बना है कि भर्तृहरि के समय को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। इत्सिंग की यात्रा के पूर्व भर्तृहरि का देहावसान हो चुका था। किन्तु लीविच, कुन्हन राजा, युधिष्ठिर मीमांसक, साधुराम जैसे विद्वान् उनका समय बहुत पहले मानते हैं। समय कोई भी रहा हो पर यह सच है कि उनके ''वाक्यपदीयम्'' ग्रन्थ की अनेक टीकाएँ और उसके अनेक भाष्य परवर्ती विद्वानों ने किये। कुछ विद्वान् तो यहाँ तक मानते हैं कि ''वाक्यपदीयम्'' संस्कृत में पहला व्याकरणदर्शन-ग्रन्थ है। मैं यहाँ इस बहस

में पड़ना नहीं चाहता क्योंकि यह इतिहासज्ञों का काम अधिक है।

मैं यहाँ रेखाङ्कित करना यह चाहता हूँ कि भर्तृहरि एक दार्शनिक व्याकरणाचार्य थे। तभी उन्होंने कहा ब्रह्म नित्य एवम् अखण्ड शब्द तत्त्व है। यहाँ वे ब्रह्म के साथ ही शब्द के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। भर्तृहरि प्रतिपादित करते हैं कि वाक्य और वाक्यार्थ सत् हैं। जबकि वैयाकरणों का मत है कि केवल अखण्ड वाक्य और वाक्यार्थ ही सत् हैं। मेरा ख्याल है कि भर्तृहरि का बल अन्य वैयाकरणों की अपेक्षा वाक्यार्थ पर अधिक है। और शब्द के अर्थ की व्याप्ति को समझना ही भर्तृहरि का असल मन्तव्य है। उनके इस दृष्टिकोण पर कई प्रश्न उठते हैं, जिनके उत्तर से हमें भर्तृहरि के मत का स्पष्टीकरण हो जाता है। ये प्रश्न इस प्रकार बताये गये हैं ; –

1. विश्लेषण द्वारा हमें प्राप्त होने वाले अर्थों का स्वरूप क्या है ?
2. यदि हम वाक्य का विश्लेषण कर सकते हैं तो क्या पद का विश्लेषण नहीं किया जा सकता और पद के अर्थों को नहीं समझा जा सकता ?
3. क्या ऐसे शब्द हो सकते हैं जिनका विश्लेषण नहीं किया जा सकता ?
4. शब्द या शब्द के अवयव कब उसके अर्थ को प्रतिभासित करते हैं ?
5. क्या शब्द का एक ही अर्थ होता है या उसके अनेक अर्थ हो सकते हैं ?
6. शब्द के मुख्य और गौण अर्थ में क्या अन्तर है ?
7. शब्दोपचार और अर्थोपचार क्या है ?
8. वे कौन से कारक हैं जो शब्द के विभिन्न अर्थों का निर्धारण करते हैं ?
9. संस्कृत-वाक्य का विश्लेषण कितने भागों में किया जा सकता है ?
10. क्या व्यष्ट्यात्मक वर्णों का कोई अर्थ होता है ?

इन सभी प्रश्नों के उत्तरों के विवाद में यहाँ पड़ने की आवश्यकता नहीं है, पर हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि भर्तृहरि पद के अर्थों के विस्तारपूर्वक प्रतिपादन में विश्वास करते हैं। शब्द और अर्थ में एक अविच्छिन्न सम्बम्ध रहता है और यही सम्बम्ध शब्द के अर्थों की व्याप्ति का निर्धारण करता है। और यहीं से यह बात आरम्भ हो जाती है कि पश्चिम में आज जिस उत्तरआधुनिकता, विखण्डनवाद आदि का डमरू बज रहा है और हम उसको समझने का निष्फल प्रयास भी कर रहे हैं। हम उनकी अवधारणाओं से चमत्कृत भी हैं। पर सच बात तो यह है कि देरिदा ने जो नयी स्थापनाएँ दी हैं वे हमें चमत्कृत तो करती हैं पर हम यह भूल जाते हैं कि इन स्थापनाओं का उत्स हमें भर्तृहरि के व्याकरण–चिन्तन में मिल सकता है।

हिन्दी-जगत् में आज उत्तरआधुनिकता, विखण्डनवाद, विनिर्मितवाद आदि अवधारणाओं पर बहसें हो रही हैं। यहाँ दो बातों को हमें बहुत सावधानी के साथ समझ लेना चाहिए कि एक तो यह अवधारणा पूरी तरह मार्क्सवाद के लिखाफ है और मार्क्सवाद को निरस्त करने का प्रयास करती है, दूसरे यह अवधारणा भाषा को ही सब कुछ मानती है। बिना भाषा के महत्त्व को समझे और उसके और मानव-जीवन के सम्बन्ध को समझे हम कोई नया सोच ला नहीं सकते। यहाँ मैं इस तथ्य को रेखाङ्कित करना चाहता हूँ कि देरिदा की मूल-स्थापना यह है कि शब्द को उसके मूल अर्थ से मुक्त करना ही उत्तर आधुनिकता है। वे यह मानते हैं कि भाषा को उसके अन्वय के द्वारा नहीं समझा जा सकता क्योंकि उसके

अर्थ में रपटन रहती है अर्थात् उसका अर्थ स्थिर नहीं है। दूसरे किसी भी शब्द का अर्थ पूर्वनिर्धारित नहीं है और न वह शब्द कोश में कैद है। शब्द की अर्थमुक्ति की बात ही सबसे पहले भर्तृहरि उठाते हैं।

यहाँ देरिदा की स्थापना की पृष्ठभूमि को समझना भी जरूरी है। उन पर सबसे पहले सार्त्र का प्रभाव पड़ा। फिर उन्होंने हीगेल, हाइडेगर, हुर्सेल का अध्ययन किया। ''देरिदा ऑफ ग्रामेटॉलॉजी'' ग्रन्थ लिखते समय वे अरस्तू तक गये। उन्होंने कॉफ का और कामू का भी अध्ययन किया। लेकिन उन्होंने सबसे अधिक लेवी स्त्रास, रूसो और सास्यूर के लेखन की खँगाला। इनमें भी भाषा के सवाल पर उन्हें सास्यूर ने सर्वाधिक प्रभावित किया। सास्यूर संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और वे एक दशक से अधिक समय तक भारत में रहे थे। उन्होंने संस्कृत-ग्रन्थों का गहरा अध्ययन किया था और उन्होंने स्वीकार किया है कि भर्तृहरि के ''वाक्यपदीयम्'' का उन पर बहुत प्रभाव है। उन्होनें कोई पुस्तक नहीं लिखी। पर उनके शिष्यों ने उनके व्याख्यानों और नोट्स को सम्पादित कर प्रकाशित कराया और उससे ही सास्यूर का भाषा-चिन्तन हमारे समक्ष आ पाया। सास्यूर ने भर्तृहरि से बहुत कुछ लिया जिसका प्रभाव उनके व्याख्यानों में देखा जा सकता है। इस प्रभाव को ही देरिदा ने अपनी स्थापनाओं का आधार बनाया और उन्होंने मुक्ति का काव्यशास्त्र निर्मित करने का उपक्रम किया। यही उनकी उपलब्धि है जिसका उत्स हम भर्तृहरि के व्याकरणदर्शन-चिन्तन में खोज सकते हैं।

हमारे लिए यह शर्म की बात नहीं है कि जब पश्चिम में कोई स्थापना जन्म लेती है तो हम गर्व से कहते हैं कि यह तो हमारे मनीषियों ने पहले ही कह दिया था और पश्चिम के लोग तो हमारी नकल कर रहे हैं। योग के महत्त्व को हमने या तो तब समझा जब पश्चिम ने उसे ''योगा'' बना दिया या बाबा रामदेव ने उसे बिकाऊ उपादान बना दिया। यह सोचने की बात है कि हमने भर्तृहरि के वैयाकरण–दर्शन का गहरा अध्ययन क्यों नहीं किया ? और जब बजरिये सास्यूर देरिदा ने अपनी स्थापनाएँ दीं तो हमें लगा कि उसने यह सब कुछ तो भर्तृहरि से उठाया है। भर्तृहरि भी पद के अर्थ की व्याप्ति पर बहुत जोर देते हैं और वे यह भी मानते हैं कि किसी पद का रूढ़ अर्थ अन्तिम नहीं होता। यही स्थापना देरिदा देते हैं जो वे सास्यूर से लेते हैं। हमें सास्यूर का ऋणी होना चाहिए कि उन्होंने भर्तृहरि के उस रूप को विश्व के समक्ष रखा जिसकी सामान्यतः हमने या तो उपेक्षा की या उसे महत्त्वहीन माना। यह हाल तो तब है जब संस्कृत में साहित्य से अधिक व्याकरण को महत्त्व दिया गया है।

जब देरिदा यह कहते हैं कि पाठ एकार्थी नहीं अनेकार्थी होता है तो लगता है उन्होंने कोई नयी स्थापना दी है पर हम उसके उत्स को खोजते हैं तो पाते हैं कि भर्तृहरि तो यही बात सदियों पूर्व कह चुके थे। हमें अपने सञ्चित ज्ञान पर गर्व तभी करना चाहिए जब हम उसे पूरी तरह समझ लें तथा यह भी देख लें कि इस ज्ञानानुशासन को हमने किन–किन रूपों में व्याख्यायित किया है। इस दृष्टि से हमें भर्तृहरि के व्याकरण-चिन्तन को नये सिरे से पढ़ने का प्रयास करना चाहिए। इससे भर्तृहरि के और भी रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हो सकेंगे।

सहा. प्राध्यापक (हिन्दी)
राजकीय स्नातकोत्तर कालेज, चिमनपुरा, शाहपुरा, जयपुर (राजस्थान)

महाराजा विक्रमादित्य की आवक्षाङ्कित प्रतिमा अभिलिखित ताम्र-मुद्रा

डॉ. जगन्नाथ दुबे

महाराजा विक्रमादित्य की एक गोलाकार ताम्र-मुद्रा प्राप्त हुई है। इस मुद्रा के पुरो भाग पर शासक की दक्षिणाभिमुख आवक्ष-प्रतिमा व शासक के मुख के सम्मुख प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मी लिपि में नाम विक्रम अंकित है। यह आवक्षाङ्कित-प्रतिमा पूर्व में प्रकाशित स्वर्ण मुद्रा के अनुरूप है। इसमें शासक का चौड़ा कपाल, दीर्घायत नैत्र, लम्बी घनी मूँछें तथा शीश पर मणियों से विभूषित आभरण और कर्णकुण्डल अंकित हैं। इस मुद्रा की विशेषता यह है कि इसमें शासक की प्रतिमा के मुख के सम्मुख उसका नाम 'विक्रम' अंकित है। इसके (विक्रमादित्य के) परवर्ती शासकों जैसे पश्चिमी शक-क्षत्रप शासकों और गुप्त-शासकों के चाँदी के आवक्षाङ्कित प्रतिमा प्रकार के सिक्कों पर उनके मुख के सम्मुख उनका नाम अंकित नहीं मिलता है। आश्चर्यजनक तो यह है कि महाराज विक्रमादित्य की दो विभिन्न धातुओं (स्वर्ण एवं ताम्र)से निर्मित तीन आवक्षाङ्कित - प्रतिमा प्रकार की मुद्राएँ वर्तमान में प्रकाश में आयी है।

उपरोक्त वर्णित आवक्षाङ्कित-प्रतिमा प्रकार का वर्णन दि जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसायटी, भाग XLVI,(1984) जिल्द 1 व 2 के पृष्ठ 35 पर आया है। इसमें प्रतिमा के सम्मुख ब्राह्मी लेख का वाचन 'विजय' किया गया है। पुन:परीक्षण से इस पर अंकित लेख 'विजय' की अपेक्षा 'विक्रम' सुसंगत लगता है। इसका प्रकाशन जर्नल में फलक क्रमांक - III - संख्या 3 पर किया गया है।

अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर में संरक्षित ताम्र मुद्रा के पुरोभाग पर दक्षिणाभिमुख। शासक की आवक्ष-प्रतिमा रेखाओं द्वारा उच्चिन्हित है। उसमें शीश पर रत्नजडित आभरण दर्शाया गया है। (प्रकाशन-दि विक्रमार्क, सितम्बर-फरवरी 2014, पृष्ठ 1)।

नान्दूर उत्खनन (नान्दूर - एक्स्केवेशन रिपोर्ट सत्र 1981-83 के पृष्ठ 73 पर क्रमांक - 268 पर प्रकाशित मृण्मय मुदांक क्रमांक - 268) के मृण्मय मुद्रांक में देवाकृति के दायीं ओर एक मानवाकृति करबद्ध मुद्रा में खड़ी है। इस चित्रण के नीचे अंकित प्रथम सदी ईसा पूर्व की ब्राह्मी लिपि में 'श्री विकुमस' (श्री विक्रमस्य) लेख अंकित है। इस मृण्मय मुद्राकं का प्रकाशन विक्रमार्क - अक्टुबर - 2013 से मार्च 2014 के आवरण पृष्ठ 2 पर किया गया है। इस देवाकृति के सम्मुख करबद्ध खड़ी मानवाकृति की समता राजा विक्रमादित्य की स्वर्ण मुद्रा पर अंकित आवक्ष प्रतिमा में शीश पर प्रदर्शित रत्नजडित आभरण कर्ण - कुण्डल, चौड़ा कपाल व मूँछें आदि से की जा सकती है।

इस प्रकार वर्तमान में महाराजा विक्रमादित्य की आवक्ष - प्रतिमा प्रकार तीन मुद्राएँ (एक स्वर्ण तथा दो ताम्र) प्रकाश में आयी है। इसके अतिरिक्त नान्दूर उत्खनन से प्राप्त मृण्मय मुद्रांक पर भी विक्रमादित्य का खड़े हुए रूप में अंकन है।

46, हरिओम् विहार
महानन्दा नगर, 12 सी सेक्टर
के पास, उज्जैन

Management Sutra in Bhartrihari's Neeti Shatak

Dr. Dharmendra Mehta
Dr. Naveen K. Mehta

Abstract

Bhartrihari may be regarded as one of the most original philosophers of management thoughts. From King Bhartruhari. he became an ascetic, a true *tapasvi* and from the ashes he burnt his passions into the eternal Shatakatraya: the Neeti, Shringara, and Vairagya Shatakas. The traya Shataka are of vast significance as the Ramayana, Geeta or Mahabharata. The present paper is an attempt to study management sutra expounding from the Neeti Shatak.

Keywords: Philosophy, Life, Management, Communication, Truth.

Objectives:

- To understand philosophical thoughts infused in the Neeti Shatak.
- To study management sutra in relation to the Neeti Shatak.

Introduction

Bhartrihari was not only a king but was a distinguished scholar, a gifted poet, a philosopher, thinker, and a highly elevated spiritual person. Bhartruhari's trilogy covers almost every experience of life known to man and pours them forth in beautiful verse. It represents philosophy to those interested in it. metrical delight to those who revel in it. morality to those who find. Honestly speaking, it tries to cater to the need of everybody depending on what they look for. Neeti Shatak unites the complex knots of life and directly captivates the human heart.

Lessons from Management

The Neeti Shatak may become a secret driving force behind the enfolclment of one's life. In the days of doubt this Shatak may support all spiritual searches. It will be helpful to self reflection, finer feeling and deepen one's inner process. Then, life in the world can become a real education—dynamic, full and joyful—no matter what the circumstance. Management has become a pail and parcel of everyday life. The general principles of effective management can be applied in every arena.

Management is a process of managing people getting them committed to work for a common objective to she optimum social benefit-in search of excellence. It seems that the modern management concepts like as vision, leadership, motivation, excellence in work, achieving goals, giving work meaning, decision making and planning, compassion, communication are all discussed in the Need Shatak. Let us discuss some of the management suira which are concealed in this sublime treatise known as Neeti Shatak as:

Noble Leader

Qualities of good leaders in form of a noble saint have been clearly explained in the Shloka 79 that such persons have all the good virtues, have no desire, are forgiving, sacrificing, detached, holy, and truthful, have sadhu like characteristics, are free of ego, are devoted to serving mankind, have equanimity, are non-differentiating between a friend and a foe, and do not distinguish soil apart from gold. Bhartrihari further narrated that it is a very natural thing for a living being to be constantly busy fulfilling his or her own self-interest Anybody becomes a great person to ;he extent of his or her ability to accommodate others.

This is so because the smaller 'self represents selfishness and the larger 'Self represents walking away from selfishness to God. The men who have smaller selves are ordinary men, and jthose who have larger selves are the great men, saints, mahatmas, sadruis, and extraordinary men. Similarly 'management propounds that a noble Coable should be free from any prejudice and should indulge in the works of social welfare along with the welfare of the organization.

Theretofore, we have live examples of selfless charismatic leaders like *Narayana Mitrthy, JRD Tata,* Ghanshyam Das *Birla.* The greatness of the great people is reflected in their behaviour that they take every kind of people in their shelter. Sea is an enormous body of water. On one hand in it rests Lord Vishnu on the other live fierce demons.

Communication

In today's, context communication plays a major role in developing business activities and strengthen business relationship. The Neeti Shatak highlights that one should always communicate with soft and polite words. One does not have to spend anything for speaking polite language. It is simply a way of life and practice *"Such persons, who never tell bitter word and always use sweet ones, who are satisfied, who never defame others are rare on this earth" [Neetishatak/106) (No. 99)].*

Stress Management

The deep rooted attitudes of market forces, western life style and presence of multinational enterprises and their mega-style operations have created a disease knows) as stress. The stress is a complex phenomenon in modern technical society and we face ii at work place, at home and in our day to day life. The Neeti Shatak talks how to cope up with work pressure. It says that the work, which has to happen, has to happen in the determined method and in no other method. So one should relax and take rest. One should work freely devoid of fear of tension. We should neither think nor ponder over the past nor should we waste time imagining the future. So applying this , we can reduce the level of our stress.

Corporate Social Responsibility

The modern organizations are also responsible towards their social obligations. In this context, the Neeti Shatak manifests that We should have benevolence towards our kindred, compassion and pity towards our servants, wickedness towards the wicked, love towards the suave, virtuous with the royal people, tolerance towards the scholars, intimacy towards ihc wife. People who are embellished with above qualities are the pillars of this society.

Team Building

No management can attain its set objectives without developing and following

team spirits. In the Neeti Shatak. a lot of impetus has been given to promote the coi ipany of good people as company of good people can reduce and mitigate the ignorance of she mind, can encourage truthful speech and moreover enhance social status and prestige. It can eliminate sin, makes and keeps the mind happy and helps in spreading name and fame. So, one does not need to say that good company facilitates attainments of everything.

Judgement/Decision Making Skills

A manager has to be skillful m making the decision because the whola business network rests upon this skill. The Neeti Shatak elaborates that a person who lacks judgement is subjected to constant advertises. River Ganga incarnated on earth via Lord's Siva's hairs, the Himalaya mountains from the mountain on earth and from the earth and from the oanh into the sea. In this way River Ganges ended Lip on ihe lowest plane. Similarly a person wiio lacks judgement ends up in a plethora of difficulties. Anything must be done after proper consideration only. Though sorrow and happiness are the fruits of previous actions and the intelligence is also mended by the

Knowledge Management

Knowledge management is the need of hour. But it is quite striking to note many years ago, Bhartrihari revealed that Knowledge is the most magnificent retrieve of human beings, it is a secret treasury and is the bestow of comforts, success and happiness knowledge's the Guru of all Gum's it is the principal teacher. It is alike a brother and family member in the foreign land. It is the noblest form of god. Amongst the kings it is knowledge which is venerated and worshipped and not wealth and riches. A person devoid of knowledge is like an animal.

Conclusions

The ultimate aim of human life is attainment of the state of bliss, which is impossible until the mind is vagrant, aimless and instable. The Vairagya Shataka, Neeti Shataka and Shringar Shataka are deep rooted to spirituality, social life and personal life respectively. The ultimate benefit of this Shataka encompasses every sphere of life. Bhartrihari himself went through a series of events that all those events had such an impact on Bhartrihari that he became detached to this world and starting abhorring material life. He renounced the palace and all the physical pleasures and sacrificed his rest of life in the benefit of the mankind. The results of his renunciation are these 3 Shatakas. Whatever the circumstances surrounding them, these three Shatakas shall always guide mankind for ages to follow. One could easily feel divine inspiration from the Shataka.

Bibliography

A.B. Keith, A History of Sanskrit Literature (Motilal Banarasidass, 1993)

Adya Rangacharya i 19-P), Drama in Sanskrit Literature. Bombay : Popular Pvakashan

M.R. Kale. Tie Niti and Yairagya Shatakas of BharU'hari (Motilal Banarsidass Publishers, 1971, 2004)

Shri Sunder Hattangadi, Neeti Shatak, You Tube, Michigan, USA Accessed on 1 1 October, 2012.

Reader
M.I.T., Ujjain

विक्रमोत्सव का महत्त्व

वि.दा. सावरकर

परमप्रतापी संवत्–प्रस्थापक श्रीविक्रमादित्य महाराज की संवत्–स्थापना को विगत कार्तिक मास में दो हजार वर्ष पूरे हुए। उन्होंने उस अवसर पर प्रवर्तित किये हुए संवत् का अनुपालन आज भी कोटि–कोटि हिन्दू करते हैं। परम प्रतापी विक्रमादित्य अखिल हिन्दू भारतीय राष्ट्र का एक मानबिन्दु है। शक, हूण आदि तत्कालीन विदेशी शक्तियों को पराभूत कर, भारतवर्ष में स्वतन्त्र तथा प्रबल हिन्दू राष्ट्र की स्थापना करने वाले इस पराक्रमी हिन्दू-सम्राट् का समय हिन्दू राष्ट्र के इतिहास का एक सुवर्ण–पृष्ठ है।

उस महापुरुष का पराक्रम ही इतना अनूठा है कि उनके नाम से प्रचलित संवत्सर के एक-एक दिवस की गणना करते हुए आज दो हजार वर्ष तक हमने उनकी स्मृति सँजोये रखी है। दो हजार वर्ष का यह समय इतरों की तुलना में सचमुच ही सुदीर्घ मानना चाहिए, इस विषय में तो कोई संशय ही नहीं है। अँग्रेजों को भी अपने इतिहास के इतने वर्ष सम्भव नहीं। अस्तित्व में आये हुए कुल मिलाकर केवल दौ सौ वर्ष वाले अमेरिकन लोग बड़े ही रौब, घमण्ड और अभिमान से अगर कहते हैं –

''हमारी पृष्ठभूमि दो सौ वर्ष के उज्ज्वल इतिहास की है अतः हमारा भविष्यकाल भी अन्यन्त उज्ज्वल है'' तो हमारा दो हजार वर्ष का समय कितना सुदीर्घ है इसकी कल्पना सहज ही हो सकती है। वर्तमान में खाल्डियन, सुमेरियन, इजिप्शियन आदि अनेक संस्कृतियाँ रसातल में चली गयी हैं और आज उनका कोई नाम लेवा भी नहीं दिखाई देता। परन्तु हमारे लिए यह अत्यन्त अभिमान और उत्साह की बात है कि एक-एक दिवस की गणना करते हुए, आज दो हजार वर्ष का उत्सव विक्रम के नाम से मनाने वाले तीस करोड़ हिन्दू उस संस्कृति की विरासत दर्शाने के लिए इसी राष्ट्र में जीवन्त रूप में विद्यमान हैं।

ई.पू. 57 वें वर्ष में एक इतनी बड़ी अकल्पनीय और अघटित घटना घट गई कि उसका स्मरण, एक विशिष्ट कालमान के रूप में, हम आज दो हजार वर्षों तक निरन्तर प्रत्येक दिवस की गणना करते हुए चले आ रहे हैं। यह कालगणना हमने आज तक अविच्छिन्न- रूप में चलाये रखी है। इसीमें इसकी मूल घटना का महत्त्व सिद्ध होता है । इस कालगणना को चाहे ''कृत'' नाम दो, मालवगण नाम दो अथवा ''विक्रम'' नाम दो। नाम चाहे कोई भी रहा; यह कालगणना तो एक ही अखण्ड-रूप में धाराप्रवाह चली आ रही है। और यह निर्विवाद सत्य है। ठीक यही बात विक्रमादित्य के विषय में भी कही जा सकती है।

यह 'विक्रम' नाम भी व्यक्ति के रूप में उतना महत्त्वपूर्ण न रहते हुए वस्तुतः एक संस्था ही बन गया है। ऐतिहासिक-दृष्टि से भी कहा जाये तो वर्तमान अवस्था में अन्यान्य आधारों की खोज–बीन के झमेले में पड़ने की अपेक्षा परम्परा से चले आ रहे वृत्तान्त को ही अधिक मान देना उपयुक्त होगा। परम्परा के अनुसार इस देश में आये हुए विदेशी शक, हूण लोगों को ई.पू. 57 वर्ष में विक्रमादित्य ने पराजित कर खदेड़ दिया था, यह निश्चित है। विदेशी लोग हमारे देश में कदम ही न रख पायें, इस हेतु अपनी सीमाओं से बाहर जाकर उनके ही देश में घुसकर पहले से ही उनका उच्छेदन हमारे पूर्वकालीन पराक्रमी राजाओं ने तब-तब क्यों नहीं किया ? इस बात पर मेरे मन में रोष तो रहा ही, किन्तु देश में आये विदेशी शकों को विक्रमादित्य द्वारा खदेड़ दिये जाने की वह घटना पराक्रम की कसौटी पर लेश मात्र भी कम नहीं उतरती।

आज सम्भवतः यह संवत्सर-संस्थापक विक्रमादित्य कौन–सा था ? यह विवाद का विषय होगा और सचमुच ही चार–पाँच विक्रमादित्य इस देश में पराक्रमी राजा हो भी गये हैं। एक विक्रमादित्य है चन्द्रगुप्त द्वितीय। चन्द्रगुप्त प्रथम वह मौर्यवंशीय है जिसने एलेकजांडर का पराभव कर, ग्रीक-आक्रमण का समूल उच्छेद किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्तवंश का था, जिसने विक्रमादित्य नाम धारण किया। दूसरा विक्रमादित्य है – ई.पू. 57 वें वर्ष में संवत्–प्रवर्तक। तीसरा विक्रमादित्य है –ईसा की चौथी–पाँचवीं शताब्दी के सन्धिकाल में मंदोसर में हूणों का परिपूर्ण पराभव करने वाला यशोधर्मन्। इसी प्रकार बङ्गीय शशाङ्क राजा ने भी विक्रमादित्य विरुद धारण किया। दक्षिण का शालिवाहन तो विक्रमादित्य नाम से ख्यात है ही। ऐसे ये अनेक-अनेक विक्रमादित्य हमारे देश में रहे। इनमें से जिसके आज दो हजार वर्ष पूरे होने का उत्सव हम मना रहे हैं, उस विक्रम–संवत् का संस्थापक विक्रमादित्य कौन सा ? यह निर्धारण करना निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। परन्तु यह विषय इतिहास–संशोधन का है। एक ही विरुद ''विक्रमादित्य'' पर यदि भिन्न-भिन्न पाँच व्यक्तियों का अधिकार दर्शाये जाने का गड़बड़ झाला भी यदि दिखाई देता है तो यह भूषणास्पद ही माना जा सकता है। विक्रमादित्य कितने हुए ? शिवाजी एक हैं या दो? ऐसे विवाद हमारे इतिहास में यदि प्रचलित रहे भी, तो मुझे तो उसमें किसी भी प्रकार की कमतरता कतई नहीं दिखाई देती। क्योंकि एक से ख्यातनाम अनेक महापुरुष निर्माण करने की कूबत हमारी हिन्दू-जाति में है। यकीनन यही खरे गर्व की बात है। उत्कृष्ट गुणशाली एक समान अनेक नररत्न जिनमें उत्पन्न होते हैं, उनमें, उन नररत्नों के वृत्तान्त की निश्चायक गणना न भी रही और संशोधकों का शोध–विषय बनने जितना विकट घोटाला हो भी गया तो उसमें लाञ्छनास्पद मानने जैसा वस्तुतः कुछ भी नहीं है।

नररत्नों की ऐसी खदान के कारण हमारे सामने कौन सा उत्सव मनाना और कौन सा नहीं ? के स्थान पर किस-किस दिन मनाना, यही प्रश्न उठ खड़ा होता है। वस्तुतः यदि सभी के उत्सव मनाने का मन बनाया जाये तो वर्ष के सभी दिवस भी पूरे नहीं पड़ेंगे। और यह स्थिति तो केवल इतिहास–निर्दिष्ट व्यक्तियों की है। यदि इसमें राम-कृष्ण आदि समस्त ख्यात अवतार तथा पुराणों में वर्णित इतर भी अनेक बड़े-बड़े अवतार भी सम्मिलित किये जायें तब तो कहना ही क्या ! हेमाद्रि ने ''चतुर्वर्गचिन्तामणि'' नामक ग्रन्थ रचा। इस ग्रन्थ के व्रतखण्डभाग में वर्ष भर के हजारों व्रत बताये हैं,

किन्तु इतने व्रत किये जायें तो कब ? यही बड़ा सवाल उठता है। स्थिति कुछ वैसी ही यहाँ भी है। ऐसा कहा जाता है कि जब ''धर्मसिन्धुकार'' या ''निर्णयसिन्धुकार'' को प्रश्न पूछा गया – ये सब व्रत आपने किये ? तो उत्तर मिला ''यदि ये सब व्रत मैंने किये होते तो यह ग्रन्थ लिख ही नहीं पाता। मैंने तो ये बता दिये। इनमें से जो भी सम्भव हो सके, तुम्हें करने चाहिए। प्रस्तुत सन्दर्भ में भी यही बात लागू होती है। हमें भी यथासम्भव उन-उन उत्सवों को मनाना चाहिए।'' विक्रमोत्सव अवश्य मनाना चाहिए। विक्रमद्विसहस्राब्दि के अवसर का महत्त्व हिन्द की संस्कृति के विगत वैभव की स्मृति के रूप में विशिष्ट है; साथ ही विक्रम की उज्जयिनी का न केवल धार्मिक अपितु प्राचीन वैभव ही साक्षी के रूप में भी ऐतिहासिक महत्त्व भी तो है ही।

इन दो हजार वर्षों के सुदीर्घ समय के अनन्तर, अनेक विदेशी उपद्रवों का विनाश करते हुए आज भी उज्जयिनी में एक हिन्दू संस्थानिक का ही शासन है। यह तथ्य हिन्दू-राष्ट्र की जातिगत संलग्नता का, प्रबल पराक्रम का तथा दुर्दान्त जीवनी-शक्ति का प्रोत्साहक प्रमाण है। सोचा जाये तो, वहाँ के वर्तमान महाराज जीवाजीराव शिन्दे सम्राट् विक्रमादित्य के ही राजकीय वारिस हैं। और इसीलिए हिन्दुस्तान में सर्वत्र विक्रमादित्य का उत्सव मनाया जाना आवश्यक होते हुए भी उस निमित्त चिरस्थायी स्मृति सँजोने का कार्य करने का अधिकार तथा कर्त्तव्य ग्वालियर राज्य के अधिपति महाराज जीवाजीशव शिन्दे का ही है।

विश्व में विक्रमादित्य एक संवत्सर–संस्थापक था। वह स्वयं एक चक्रवर्ती सम्राट् होते हुए भी विद्वान्, रसिक तथा प्रजाहित तत्पर था। अत्यन्त श्रेष्ठ कवि, ज्योतिषी, कोषकार, दार्शनिक, शिल्पकार आदि उसके राज्य में रहे। श्री तथा सरस्वती दोनों का ही दिव्य वरदहस्त उस सम्राट् पर रहा। इन समस्त गुणों के कारण विक्रमादित्य नामक यह विभूति हमें तो गौरवास्पद लगती ही है; संसार में किसी को भी गौरवास्पद लगनी चाहिए। किन्तु केवल सम्राट्, वीर, विद्वान् आदि गुणों की अपेक्षा भी हमारे हिन्दू राष्ट्र को विक्रमादित्य जो गौरवास्पद लगता है, वह तो इसीलिए कि इसने शक-हूण जैसे विदेशियों की सत्ता नेस्त–नाबूद कर, एक के बाद एक रणाङ्गणों में उनका पराभव करते हुए, भारतवर्ष को स्वतन्त्र बनाया और एक प्रबलतम दिग्विजयी हिन्दू-सम्राज्य का संस्थापन किया। हमारे हिन्दुस्तान के इतिहास में सम्राट् तो अनेक हुए, शूरवीर भी बहुत हुए। परन्तु विक्रमादित्य की कृतज्ञ-स्मृति आज दो हजार वर्षों से हमारे हिन्दू-राष्ट्र में जो जीवन्त रही है; वह तो उसके सम्राट्, पराक्रमी आदि विविध विशेषणों के लिए न होकर, मुख्यतः विक्रमादित्य की ''शकारि'' उपाधि के लिए, इस अतुलनीय विक्रम के लिए ही है।

(मराठी विक्रम स्मृति से अनुवाद–प्रो. अजिता त्रिवेदी)

18, अलखधाम नगर
उज्जैन

विश्व-संस्कृति

भगवतशरण उपाध्याय

संसार के सभी देशों में सभी काल के मनीषियों ने एक विश्व की भावना की है। और आज तो इतनी बड़ी दुनियाँ जो सिमटकर मुट्ठी भर में आ गई है तो उस भावना का जोर पकड़ जाना स्वाभाविक है। आने–जाने के साधन, विज्ञान के एक से एक अचरज भरे आविष्कार, हवाई जहाज और रेडियो आसमान की व्यापकता को भाँप चुके हैं। आज हम पूरब चलते हुए कुछ ही घण्टों में पच्छिम को मुँह किए वहीं पहुँच सकते हैं जहाँ से चले थे और सूरज को अपनी चाल की तेजी से पीछे कर वहाँ उसका उगना देख सकते हैं जहाँ वह पिछली शाम डूबा था, गरज कि आज हमने अपने वामन के चरणों से त्रिभुवन नाप लिया है और हमारा संसार सचमुच सिमटकर हमारी मुट्ठी में आ गया है। कोई वजह नहीं कि हम एक विश्व की आज भावना न करें।

समूची दुनिया के इंसानों की नस्ल एक है, इसके राग–द्वेष समान हैं, उसकी तृष्णा–वासना समान है, जीवन–मरण समान है, उसकी समस्याएँ समान हैं, उनका हल भी निश्चय समान होना चाहिए। युद्ध का विस्फोट एक जगह होता है, सारा संसार उससे संकट में पड़ जाता है। हजारों मील दूर लड़ाई होने पर भी दुनियाँ का छोटा से छोटा और दूर से दूर का मुल्क भी उसमें खिंच आता है, उसके बाद का असर सारे जहान पर एक ही रूप में पड़ता है। दूर की रोजगारी अपनी तेजी और मन्दी का असर दूर के मुल्कों पर डालती है। दुनियाँ का कोई हिस्सा नहीं जो उसके असर से बचा रह सकता हो। इसलिये आज जब हम अपने देश की बात सोचते हैं, अपनी समस्याओं पर विचार करते हैं तब दुनियाँ के सारे देश और समूची मनुष्य-जाति की समस्याओं पर बरबस विचार करना पड़ जाता है।

इसका ही यह परिणाम है कि आज हमें अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिये संयुक्तराष्ट्र संघ की स्थापना करनी पड़ी है जो यदि, वह ईमानदारी से लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्य करे, तो निश्चय मनुष्य-जाति का हित कर सकेगा।

आज के सामाजिक साधनों का संघटन हम सामूहिक-रूप से ही करने लगे हैं। पहले वह संगठन देशव्यापी होता है फिर संसारव्यापी हो जाता है। तार, बेतार का तार, रेडियो, टेलीफोन, हवाई लाइन, समुद्री-मार्ग, अन्तर्देशीय रेलवे, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, विश्वव्यापी आधार पर संगठित हो चुके हैं फिर एक विश्व की भावना में सन्देह क्यों हो ?

पिछली सदियों में जातियों ने जो अपने को एक दूसरे से अलग मानकर, एक दूसरे को जीतकर, उसके जीव्य-साधनों को चूस उसे हेय कर दिया है तो जातियों में परस्पर अन्न–अन्नाद का सम्बन्ध बन गया है, खाने वाले और खाए जाने वाले का। सन्देह और घृणा उसके परिणाम हुए हैं। काम ने एक–दूसरे को अपना ग्रास बनाया। तब एक विश्व की भावना निश्चय असम्भव थी। पर आज हमने उन वसूलों को छोड़ दिया है जिसमें इंसान इंसान का आहार बनाया जाता है। जिन्दगी की लहर रोकी नहीं जा सकती और जिन्दगी, ईमानदारी और मेहनत के सिद्धान्त पर ही सबके लिये कायम हो सकती है। यह हमने आज जाना और माना है और इसी वसूल पर दुनियाँ की सारी सामाजिक परम्पराएँ आज बाँधी जा रही हैं। अपनी भूमि पर अपने जीव्य-साधनों को भोगना मानव का सहज अधिकार माना जा चुका है। शोषण की प्रवृत्ति या तो टूट चुकी है या निरन्तर टूटती जा रही है और जातियों में भाईचारे की प्रवृत्ति खासे तौर पर घर कर चली है।

भारत ने तो बहुत पहले ही अपने आप जीवित रहने और दूसरों को जीवित रहने देने की शपथ ली थी। इसकी सामाजिक-प्रेरणा की आदिबिन्दु ही, मूलबीज ही, वसुधा की कुटुम्बिता थी। जब–जब भारतीय मनीषी ने ज्ञान गुना तब-तब उसने मुट्ठी खोलकर उसे बाँटा, सूर्य के घाम की तरह, बहते जल की भाँति, परसती बयार की तरह। सबसे साथ उसने माँगा। बुद्ध ने कहा भिक्खुओ, यह हमारा सत्य है, इसे हमने गुना है, बहुजन के सुख के लिये, बहुजन के हित के लिये। इसे तुम लेकर जाओ। इस सत्य को लेकर जो आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है, अन्त में कल्याणकारी है और दो–दो एक ही देश में न जाओ। प्रत्येक भिन्न–भिन्न देश में जाओ जिससे दूर–दूर के मनुष्यों में इस सत्य का प्रचार हो। अशोक ने सदियों बाद जब उस सत्य का प्रचार करना चाहा तब दूर के देशों में उसने अपने हरकारे भेजे। उसने सत्य और सेवा के क्षेत्र में अपना–पराया न सोंचा। मानवमात्र के कल्याण को उसने अपना इष्ट बनाया और उस काल के समूचे सभ्य संसार में उसकी लगन व्यापक हुई। यूरोप, अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के विदेशी–विजातीय यूनानी राज्यों में भी उसने बन्धुता के नाते दवाएँ बटवाईं। दवाओं में काम आने वाले पौधे लगवाये और इस प्रकार उस कठिनकाल में भी देशों के बीच आने–जाने के साधनों का सर्वथा अभाव होने पर भी उसने एक विश्व की भावना की।

लगातार यह विचार जोर पकड़ता गया। चीन और भारत के यात्री अपने देशों की दूरी को शून्य कर उनकी कठिन राहों को तै कर दोनों के बीच सदा आते–जाते रहे। भाषा, सिक्के, वेष, आहार किसी प्रकार की कठिनाई उनके आड़े न आ सकी क्योंकि उन्होंने भारत के गुने ज्ञान को समूचे विश्व का माना था, अपना माना था। और जो भारत के पक्ष में सही है वही संसार के सभी देशों के पक्ष में सही है। वरना एक देश दूसरे देश की ईजाद की हुई वस्तुओं का लाभ कैसे उठा पाता ? किस प्रकार तब भला पासचर, लीस्टर और अनगिनत संसार के सेवियों की खोजों का हमें लाभ होता ? पर सच तो यह है कि महापुरुष और उनका ज्ञान न एक देश के होते हैं, न एक काल के। वे सर्वदेशी होते हैं, सर्वकालिक मूसा और जरवुश्त की, लाओत्से और कनफूशश की, बुद्ध और अशोक की, ईसा और मुहम्मद की क्या कोई जाति थी या कि कोई देश था या काल था ? वे तो सर्वदा विद्यमान थे। आर्यभट्ट और कापरनिकस,

गैलिलियो और न्यूटन, ऐडीसन और आइंस्टाइन उस परम्परा के हैं जिसे न देश की परिधि में बाँधा जा सकता है, न काल के परिमाण में और सभी केवल एक दिशा में सङ्केत करते हैं मानव की समष्टि की ओर, उसकी सामूहिक सिद्धि की ओर। हम आज इन्हीं खोजियों की दुनियाँ में सिकन्दर और हैनिवल की विजयों की दुनियाँ में नहीं मिलते हैं। व्यास ने कभी महाभारत में कहा था 'तदिदं गुह्यं बलं ब्रवीमि न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' राज की बात कहता हूँ। कानों में भर लो यह मन्त्र मेरा, गाँठ बाँध लो इसे कि मनुष्य से बढ़कर सृष्टि में और कुछ नहीं। और उसने जो मनुष्य का वहाँ नाम लिया वह मनुष्य की कोई परिभाषा नहीं करता, कोई परिधि नहीं बाँधता। मनुष्य मात्र की ओर सङ्केत करता है, सारी मानवजाति की ओर।

इस दिशा में संस्कृति का विकास विशेष अर्थ रखता है। संसार की संस्कृति का, उसकी सामाजिक संस्थाओं, राजनीतिक विधानों का जो विकास हुआ है वह सर्वथा एक–दूसरे की देखा–देखी और एक दूसरे की खोज से, प्रयोग से लाभ उठाकर हुआ है। बौद्धधर्म का उदय भारत में होता है, उसका ज्ञान चीन के कागज पर लिखा जाता है, चीनियों की खोजी हुई छपाई की मशीन से छपता है और वह छपाई की मशीन और खोजा हुआ कागज यूरोप चला जाता है और वहाँ के पुनर्जागरण और सुधारवादी, मेधावी, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों में सहायक होता है। ईसा जन्म यहूदियों में लेता है और उसका विश्वास यूरोप और अमरीका की जमीन पर पलता है । साहित्य और आलोचना की भाव–भङ्गिमा, कला की मुद्राएँ एक देश में जनमती हैं और सारे संसार में फैल जाती हैं। सेवा की भावना फ्लोरेन्स नाईटिंगल के मन में उठती है और रेडक्रास की संस्थाएँ संसार भर में छा जाती हैं। जैसे रामकृष्ण मिशन की, दुनियाँ के कोने-कोने में। ग्रीक नगरों में प्राचीनकाल में सुकरात, अफलातून और अरस्तू सत्य का दर्शन करते हैं, बर्बर आते हैं और उनको मिटा देते हैं पर उसका ज्ञान अरब लोग अपने रेगिस्तान में उठा ले जाते हैं, वहाँ उसकी रक्षा करते हैं और उनकी वह विरासत न केवल उनके यूरोप को बल्कि समूचे संसार को सौंप देते हैं। चीन से वे बारूद, कागज और छपाई की मशीन लेते हैं, भारत से गणित, चिकित्सा और साहित्य लेते हैं, यूनान से दर्शन और विज्ञान और सारे यूरोप में उन्हें फैला देते हैं। अरब संसार के ज्ञान के पहले पहरुआ थे और उनका आचरण उसी विश्व की एक भावना को प्रमाणित करता है उनका एकेश्वरवाद, एक जातीयता। सभी फिनिशियों की व्यापारिक मान्यताएँ, उनकी हुण्डी का प्रचलन, बैकिंग के उसूलों और सिक्कों का इस्तेमाल, उनकी लिखावट का विस्तार आज के संसार में कितना व्यापक है ? कहना न होगा। उनसे भी बाबुली नक्षत्रों को देखते हैं, राशिचक्र गुनते हैं, पञ्चाङ्ग बनाते हैं और उनकी नक्षत्रविद्या उनका राशि वेधशाला बनाता है। अपनी सहूलियत के लिये कागज के रुपये चलाता है, वेधशालाएँ देश में स्थापित हो जाती हैं, सिक्कों का स्थान संसार भर में कागज के नोट ले लेते हैं। किसने सोचा था भला कि कुतुबनुमा जिसे कुछ यूरोप के माँझियों ने अपनी राह खोजने के लिये ईजाद किया था, सागरतरण के साधनों में क्रान्ति कर देंगे ? बाद हारग्रीवज ने अपने मालिकों के लिये अपने आविष्कार किए और संसार भर में कारखानों का जाल फैल गया। मार्क्स और गाँधी का तप आज विश्व में इतना व्यापक हो उठा है ? संस्कृति का सार्वभौमिक, सर्वकालिक विकास एक विश्व की

योजना में पहली इकाई है। इकाई ऐसी जो अपने–पराए का भेद नहीं करती। सबमें अनायास घर कर लेती है। उसका सङ्केत है कि संसार एक होकर रहेगा और उसका वह दावा सत्य करना शान्ति और स्नेह के प्रसारकों का कर्तव्य होगा। संस्कृति का समष्टि-रूप ही संसार की अनन्त हवाइयों का समाहार है।

कृष्णचरितम्
(समुद्रगुप्तेन रचितम्)

1 मुनि कवयः ॥ ---------- मिवाकरोत् ॥12॥
शाङ्ख्यायनाय कवये नमोस्तु कण्ठाभरणकर्त्रे ।
काव्यं यस्य रसाढ्यं कण्ठाभरणं सदा विदुषाम् ॥ 13॥
यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।
काव्येन रुचिरणैव ख्यातो वररुचिः कविः ॥14॥
न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरित वार्तिकैर्यः ।
कल्पेति भूयोनुचकार तं वै कात्यायनोऽ सौ कविकर्मदक्षः ॥15॥
रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैक वाङ्मुनिः ।
दाक्षीपुत्रवचो व्याख्या पटुर्मीमांसकाग्रणीः ॥16॥
ब (बा)लचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च ।
महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव ॥17॥
सुयशाभवद् भूमौ बृहस्पतिसमः कविः ।
यत्काव्यमिन्द्रविजयं भासते देवलोन्त्यजः ॥18॥
विद्ययोद्रिक्तगुणया भूमावमरतां गतः ।
पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा ॥19॥
कृतं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम् ।
धर्मावियुक्ताश्चरके योगाशेषमुषः कृताः ॥20॥
महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम् ।
योगव्याख्यानभूतं तद्रचितं चित्तदोषहम् ॥21॥
भासमान महाकाव्यः कृतविंशति नाटकः ।
अनेकाङ्कविधाता च मुनिर्भासोऽभवत् कविः ॥22॥
यस्यामन्दरसा वाचः स्यन्दन्त्यानन्दमुच्चकैः ।
अन्येन केन कविना तुल्यता तस्य वर्तताम् ॥23॥

अन्यः कः कर्तुमशकत्कविर्धर्मार्थकामवत्।
यथा वासवदत्ताख्यं यस्य नाटकमुत्तमम्॥24॥
वाल्मीकिवैभवनिदर्शनमादिकाव्यं रङ्गे निदर्शितमयं सुरसं चकार।
व्यासस्य भारतमभारतया सुदर्शं कृत्वा च तत्र विविधाः स्वकथा युयोज॥25॥
अयं च नान्वयात्पूर्वं दाक्षीपुत्रपदक्रमम्॥26॥
अभिरामाः सुबोधाश्च यस्य वाचो महाकवेः।
रसैरग्निं शमं निन्युस्तस्य किं वर्ण्यतां यशः॥27॥
दावमब्द इव क्षिप्तं निस्तापं हृदयं सताम्।
करोति वर्धमानस्य कवेर्भीमजयं रसैः॥28॥
बाह्योप्यहो इहागत्य कविसम्मानमाप्तवान्।
अकरोद् बुद्धचरितं मागध्यामृषिवाच्यपि॥29॥
पीयूषलिप्तवचनश्चीनदेवो व्रती कविः।
यशः शरीरेण सदा जीवत्येव महामतिः॥30॥
काव्यं चकार रमणीयगुणं यशस्यं सूर्यस्तवं शिखरिणीशतमानमाप्तम्।
अत्र स्थितोऽलभत भूरियशो बभूव भक्तः सहस्रकिरणस्य तमोपहन्तुः॥31॥
जातो महात्मनां मान्यः पर्शुवंशो भवोपि सन्।
चक्रे मिहिरदेवः स रम्यं चादित्यमन्दिरम्॥32॥
पीयूषसौन्दर्यरसाः सुखेन धर्मार्थकामान्सकलान्ददत्यः।
येषां गिरस्ते कवयो महान्तः पूर्वं दशेमेभिहिता मयात्र॥33॥
इति **श्रीविक्रमाङ्क**महाराजाधिराजपरमभागवतश्रीसमुद्रगुप्तकृतौ कृष्णचरिते
कथाप्रस्तावनायां मुनिकविकीर्तनम्॥श्रीः श्रीः

''नमो भगवते कृष्णाय''
''अथ राजकवयः''
जयत्ययं पूर्णकलः कविकीर्तिसुधाकरः।
अकलङ्को रसाम्भोधिमुद्वर्तयति यः सदा॥1॥
व्याहारसौष्ठवमुदाररसं महार्थं यन्नाटकं सुरभिगर्भितनाटकञ्च।
तद्वत्सराजचरितं मृदुभावहारि कृत्वा सुबन्धुरभवत्कृतिनां वरेण्यः॥2॥
बिन्दुसारस्य नृपतेः स बभूव सभाकविः।
किन्तु सेहे न तद्गर्वं तिरश्चक्रे च तां सभाम्॥3॥
उरगाभे नृपे तस्मिन् क्रुद्धे बन्धमितं कविम्।
सरस्वती मुमोचाथ तं देशं सोऽत्यजत्तदा॥4॥

विद्वान्जयी वत्सराजो दृष्ट्वा वैदुष्यमुत्तमम्।
पञ्चग्रामान्ददौ तस्मै निजां भगिनिकां तथा॥5॥
पुरन्दरबलो विप्रः शूद्रकः शस्त्रशास्त्रवित्।
धनुर्वेदं चौरशास्त्रं रूपके द्वे तथाकरोत्॥6॥
स विपक्षविजेताभूच्छास्त्रैः शस्त्रैश्च कीर्तये।
वीर्ये नास्य परे सौगताश्च प्रसेहिरे॥7॥
स तस्तारारिसैन्यस्य देहखण्डै रणे महीम्।
धर्माय राज्यं कृतवान् तपस्विव्रतमाचरन्॥8॥
शास्त्रैर्जितमयं राज्यं प्रेम्णा ऽकृत निजं गृहम्॥
एवं ततस्तस्य तदा साम्राज्यं धर्मशासितम्॥9॥
तत्कथा कृतवन्तौ यौ कवी रामिलसौमिलौ।
तस्यैव सदसि स्थित्वा तौ मानं बह्वाप्नुताम्॥10॥
सतां मतः सोश्वधं कृतवानुरुविक्रमः।
वत्सरं स्वं शकान् जित्वा प्रावर्तयत वैक्रमम्॥11॥
भूयः स मृच्छकटिकं नवाङ्कं नाटकं व्यधात्।
व्यधात्तस्मिन्स्वचरितं विद्यानयबलोर्जितम्॥12॥
तदार्यकजयं नाम्नां ख्यातिं विद्वत्स्वविन्दत।
एवं ब्रह्मक्षत्रतेजोराशिरासीत्स शूद्रकः॥13॥
उपवेश्य निजं पुत्रं देवमित्रं निजासने।
वार्धके मुनिवृत्यैव नयन्कालं वनं ययौ॥14॥
तस्याभवन्नरपतेः कविराप्तवर्णः
श्रीकालिदास इति योऽप्रतिमप्रभावः।
दुष्यन्तभूपतिकथां प्रणयप्रतिष्ठां
रम्याभिनेयभरितां सरसां चकार॥15॥
शाकुन्तलेन स कवि नाटकेनाप्नवान् यशः।
वस्तुरम्यं दर्शयन्ति त्रीण्यन्यानि लघूनि च॥16॥
जन्मनार्योऽ भवद्विद्वान् सौगतस्तर्कवारिधिः।
सौनन्दबुद्धचरिते महाकाव्ये चकार यः॥17॥
तस्य शूद्रकवेर्घोष इति नामाभवत्ततम्॥
धर्मव्याख्यानरूपान्स नवग्रन्थानरीरचत्॥18॥
सौगतानां महासंसत्तुरीयाभून्महोज्ज्वला
तस्यां सभ्यो बभूवायं विश्वविद्वच्छिरोमणिः॥19॥

निजकीर्त्तेर्वैजयन्तीं कर्णकीर्त्तिं चकार यः।
हरिचन्द्रो विजयते पाञ्चालक्षितिपः कविः ॥20॥
मातृगुप्तो जयति यः कविराजो न केवलम्।
काश्मीरराजोप्यभवत् सरस्वत्याः प्रसादतः ॥21॥
विधाय शूद्रकजयं सर्गान्तानन्दमद्भुतम्।
न्यदर्शयद्वीररसं कविरावन्तिकः कृतिः ॥22॥
तुङ्गं ह्यमात्यपदमाप्तयशःप्रसिद्धं
भुक्तवा चिरं पितुरिहास्ति सुहृन्ममायम्।
सन्धौ च विग्रहकृतौ च महाधिकारी
विज्ञः कुमारसचिवो नृपनीतिदक्षः ॥23॥
काव्येन सोऽद्य रघुकार इति प्रसिद्धो
यः कालिदास इति लब्धमहार्हनामा।
प्रामाण्यमाप्तवचनस्य च तस्य धर्म्ये
ब्रह्मत्वमध्वरविधौ मम सर्वदैव ॥24॥
चत्वार्यन्यानि काव्यानि व्यदधाच्च लघूनि सः।
प्राभावयच्च मां कर्तुं कृष्णस्य चरितं शुभम् ॥25॥
हरिषेणकविर्वाग्मी शास्त्रशस्त्रविचक्षणः।
यशोऽलभत् काव्यैः स्वैर्नानाचरितशोभनैः ॥26॥
येषां न केवलं काव्यं श्रेष्ठं धर्मार्थकामदम्।
राजता वा राजनीतिरुपकर्त्री मनः स्थिता ॥27॥
ते राजकवयोऽमात्या शुद्धकर्मगुणैर्भुवि।
वर्णिता अष्टगुरवो दिङ्नागप्रतिपक्षिणः ॥28॥

इति **श्रीविक्रमाङ्क**महाराजाधिराजपरमभागवतश्रीसमुद्रगुप्तकृतौ कृष्णचरितं कथाप्रस्तावनायां राजकविकीर्त्तनम्।

ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय॥ श्रीः श्रीः नमो भगवते कृष्णाय॥

॥ अथ जीविकाकवयः ॥

(रसशाला औषधाश्रम, गोडल, काठियावाड़) प्रकाशन अगस्त 1997 श्रावण)

(समुद्रगुप्त का विक्रम अङ्कित सिक्का प्रकाशित है - सम्पादक)

प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं
आजादी के संघर्ष पर केन्द्रित
यादगार पुस्तकों से साक्षात्कार

आजादी के आंदोलन में
अपना सब कुछ न्यौछावर
कर देने वाले असंख्य
क्रांतिवीरों और
अनाम योद्धाओं
को नमन।

स्वराज संस्थान संचालनालय
संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन
रवीन्द्र भवन परिसर, भोपाल-462002
फोन : 0755-2660563, 2660407
फैक्स : 2661926

न स देशो न स ग्रामो न स लोको न सा सभा।
न तच्छक्तं द्विवं यत्र विक्रमार्को न गीयते ॥

अश्वमेध का दृश्य
इतिहास काल, झूँ-रॉक, भीमबैठका, जिला-रायसेन (म.प्र.)

अश्वमेध का दृश्य
इतिहास काल, झूँ-रॉक, भीमबैठका, जिला-रायसेन (म.प्र.)

राज्ञो भानुमित्र

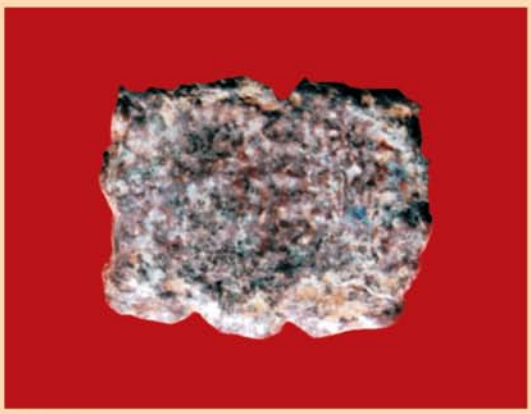

राज्ञो भानुमित्र

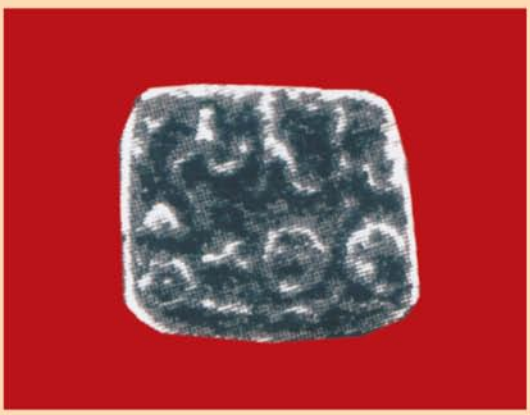

मासतन्द्रय

मासतन्द्रय

स्वामी / प्रकाशक : डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, निदेशक महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, 1 उदयन मार्ग, उज्जैन (म.प्र.) से प्रकाशित तथा मुद्रक विनय तिवारी, प्रबंधक द्वारा पंचायतीराज मुद्रणालय, 1 औद्योगिक क्षेत्र, नागझिरी, देवास रोड़, उज्जैन (म.प्र.) से मुद्रित। सम्पादक : डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित।